हिन्दी त्रैमासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३६ अंक २

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-मई-जून

◆ १९९८ ◆

प्रबन्ध सम्पादक तथा व्यवस्थापक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/-　　वर्ष ३६ अंक २　　एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष　२२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(११४ वीं तालिका)

४१२१. श्री प्रमोद बैस, गोढ़ी, रायपुर (म. प्र.)
४१२२. श्री रामकुमार साहू, बरतोरी, रायपुर (म. प्र.)
४१२३. सचिव, विवेकानन्द इंग्लिश स्कूल, रायपुर (म. प्र.)
४१२४. श्री अनिल शर्मा, कल्पना नगर, भोपाल (म. प्र.)
४१२५. श्री आशुतोष साव, जूना बिलासपुर (म. प्र.)
४१२६. श्री भरत एम. राजेश्वर, मलाड, मुम्बई (महाराष्ट्र)
४१२७. श्री ओमप्रकाश सुनारीवाल, मुम्बई (महाराष्ट्र)
४१२८. श्री बाबूलाल कन्हैयालाल झारडा, उज्जैन (म. प्र.)
४१२९. श्री राजेश शर्मा, शिवपुरी (म. प्र.)
४१३०. श्री रमेशचन्द्र गांधी, राजनांदगांव (म. प्र.)
४१३१. श्री डिडिनेश्वरी समिति, मल्हार, बिलासपुर (म. प्र.)
४१३२. श्री किशोरीलाल जी बागड़िया, रायपुर (म. प्र.)
४१३३. श्रीमती इन्दिरा देवी अग्रवाल, रायपुर (म. प्र.)
४१३४. श्री हरिहरदास जी, साकेतनगर, अयोध्या (उ. प्र.)
४१३५. श्री नेन्सी डी. दामा, शारदा चौक, रायपुर (म. प्र.)
४१३६. श्री कीर्ति गुरुदत्त, दयालबन्द, बिलासपुर (म. प्र.)
४१३७. श्री राजेन्द्र के. देशपांडे, परभणी (महाराष्ट्र)
४१३८. श्री मनोहर गोपवानी, धन्तोली, नागपुर (महाराष्ट्र)
४१३९. श्री सनातन संत समाज आश्रम, सरगूजा (म. प्र.)
४१४०. श्री विनोद कुमार साहू, कोटा, रायपुर (म. प्र.)
४१४१. श्री पद्माकर तिवारी, कन्हाईबन्द, बिलासपुर (म. प्र.)
४१४२. श्री कुञ्जबिहारी देव, बहीगाँव, बस्तर (म. प्र.)
४१४३. डॉ० अखिलेश अग्रवाल, रुरकी, हरिद्वार (उ. प्र.)
४१४४. श्री निरंजन दास खैरहा, शहडोल (म. प्र.)
४१४५. श्री देवनारायण शर्मा, ब्राह्मणपारा, रायपुर (म. प्र.)
४१४६. श्री दिलीप देव, प्रतापनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
४१४७. श्री दयाशंकर व्यास, स्नेहनगर, इन्दौर (म. प्र.)
४१४८. डॉ० आर. पी. दुबे, सरस्वती कालोनी, दमोह (म. प्र.)
४१४९. श्री प्रेमनाथ सिंह, पीली कोठी, रीवाँ (म. प्र.)
४१५०. श्री रामेश्वर दास अग्रवाल, देवरी, भण्डारा (महाराष्ट्र)

एक निवेदन

भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के चरणरेणु से तीर्थीकृत तथा उनकी स्मृतियों से जुड़े समग्र हिन्दू जाति के आकर्षण-केन्द्र ज्योतिर्लिंग बाबा वैद्यनाथ की इस पुनीत नगरी देवघर में रामकृष्ण संघ द्वारा परिचालित प्रथम शिक्षण संस्थान रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ की स्थापना १९२२ ई. में हुई। भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्यनम पार्षद श्रीमत् स्वामी तुरीयानन्द महाराज की प्रेरणा तथा स्वामी विवेकानन्द के शिक्षादर्शों पर आधारित ७५ वर्ष पूर्व आरम्भ किया गया यह शिक्षण-संस्थान आज पूरे भारतवर्ष में विख्यात है। रामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष परम पूजनीय स्वामी शिवानन्दजी महाराज ने भविष्यवाणी की थी, "इस विद्यापीठ के माध्यम से भविष्य में अत्यन्त महान कार्य सम्पन्न होगा, इसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है।"

विद्यापीठ के बहुमुखी कर्म-प्रवाह में आर्थिक अवस्था से विपन्न ४०० छात्रों के लिए आज 'विवेकानन्द बाल-केन्द्र' मुख्य इकाई के रूप में कार्यरत है, जिसमें निःशुल्क शैक्षिक तथा क्रीड़ा-सम्बन्धी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इस अनुन्नत वर्ग को ही नवीन भारत का आधार बनाते हुए स्वामीजी ने कहा था —

"एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दुकान से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकले जंगलों से, पहाड़ों-पर्वतों को भेदते हुए।" इस वाणी को ध्यान में रखते हुए सर्वाधिक पिछड़े, सबसे अधिक दबे हुए वर्ग को अपने विनम्र भाव से शिक्षित करने के प्रयास में **'विवेकानन्द बाल-केन्द्र'** अनवरत संलग्न है।

सम्प्रति इन छात्रों की यथोक्त शिक्षा के लिए एक स्थायी भवन की नितान्त आवश्यकता है, जिसकी अनुमानित लागत १० लाख रुपये है। अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

निवेदक,

स्वामी सुवीरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर (बिहार)

नोट: १. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के नाम से ही चेक या ड्राफ्ट भेजे जायँ।

२. रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान धारा ८० (G) के अनुसार आयकर से मुक्त हैं।

अनुक्रमणिका

१.	जीवन की सार्थकता (भर्तृहरि)	५
२.	रामकृष्ण-वन्दना ('विदेह')	६
३.	अग्निमंत्र (विवेकानन्द के पत्र)	७
४.	चिन्तन-३२ (स्वच्छता का महत्व) (स्वामी आत्मानन्द)	११
५.	श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग (९२ वाँ प्रवचन) (स्वामी भूतेशानन्द)	१३
६.	मानस-रोग (२८/२) (पं. रामकिंकर उपाध्याय)	१७
७.	श्री चैतन्य महाप्रभु (३८) (स्वामी सारदेशानन्द)	२७
८.	धर्म के जीते-जागते स्वरूप श्रीरामकृष्ण (रामधारी सिंह 'दिनकर')	३७
९.	लो विवेक शतकोटि प्रणाम (कविता) (डॉ० बंशीधर दास)	५२
१०.	माँ के सान्निध्य में (३९) (सरयूबाला देवी)	५३
११.	ज्ञान-कर्म-मीमांसा (स्वामी भूतेशानन्द)	५९
१२.	चेतावनी (कविता) (कृपाशंकर अग्निहोत्री)	६८
१३.	मानव-जीवन का प्रयोजन (स्वामी सत्यरूपानन्द)	६९
१४.	जगद्गुरु श्रीरामकृष्ण (स्वामी विशुद्धानन्द)	८१
१५.	स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण (एक भक्त)	८५
१६.	संवाद और सूचनाएँ - (रामकृष्ण मिशन का वार्षिक प्रतिवेदन)	९३

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल–मई–जून

◆ १९९८ ◆

वर्ष ३६ अंक २

जीवन की सार्थकता

भोगास्तुङ्गतरङ्गभङ्गतरलाः प्राणाः क्षणध्वंसिनः
स्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखस्फुर्तिः प्रियासु स्थिता।
तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधका
लोकानुग्रहपेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम् ॥

अन्वय – भोगाः (इन्द्रियों के भोग्य विषय) तुङ्ग- (उच्च) तरङ्ग-भङ्ग-तरलाः (तरंगों के बिखरने के समान चंचल हैं), प्राणाः (प्राण भी) क्षण-ध्वंसिनः (क्षण भर में नष्ट होनेवाले हैं), प्रियासु (प्रेमिकाओं में) स्थिता (विद्यमान) यौवन-सुख-स्फुर्तिः (यौवन के सुख की अभिव्यक्ति भी) स्तोकानि-दिनानि-एव (चन्द दिनों के लिए ही है) तत् (इसलिए) बोधका (हे उपदेशको) बुधाः (विद्वानो!) निखिलम् (इस अखिल) संसारम् एव (विश्व को ही) असारम् (निःसार) बुद्ध्वा (जानकर) लोक-अनुग्रह-पेशलेन (सब पर कृपा युक्त) मनसा (चित्त से) यत्नः समाधीयताम् (प्रयत्न में लग जाओ) ।

अर्थ – इन्द्रियों के भोग्य विषय उच्च तरंगों के बिखरने के समान चंचल हैं, प्राण भी क्षण भर में नष्ट होनेवाले हैं, प्रेमिकाओं में विद्यमान यौवन के सुख की अभिव्यक्ति भी चन्द दिनों के लिए ही है, इसलिए हे उपदेशक विद्वानो ! इस अखिल विश्व को ही निःसार जानकर सब पर कृपायुक्त चित्त से प्रयत्न में लग जाओ ।

– भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, ३४

रामकृष्ण-वन्दना

'विदेह'

— १ —

(केदार-कहरवा)

मन जो तू चाहे सुखविधान, तो सुन ये बातें खोल कान,
सब छोड़ भोग-ऐश्वर्य-मान, भज रामकृष्ण करुणानिधान।।
दो दिन की है सारी माया, सुखमय लगती झूठी छाया,
तू शीघ्र विमुख हो जा इससे, विषरूप वासना-विषय जान।।
दुनिया में ना कुछ भी तेरा, अब छोड़ अहं-मम का घेरा,
सेवा में अर्पित हो जीवन, सबको निज आत्मस्वरूप मान।।
अपना ले सुखकर मार्ग श्रेय, नित स्मरण रहे निज परम ध्येय,
नित प्रभुलीला का चिन्तन कर, सत्संगति है अमृत समान।।

— २ —

(बिलासखानी तोड़ी-कहरवा)

करो ठाकुर मेरा उद्धार।
आया हूँ मैं शरण तुम्हारी, भवबन्धन सब डार ॥ करो० ॥
क्षणभंगुर विषयों में अटका, जनम जनम तक जग में भटका,
बहुत हो गया दूर करो अब, मायामय संसार ॥ करो० ॥
जब जब भीर परी तव जन पर, किया निवारण तुमने लखकर,
पर मुझ पर क्यों कृपा हुई ना, कबसे रहा पुकार ॥ करो० ॥
डूब रहा माया दलदल में, छूट रही आशा पल पल में,
बाँह पकड़कर कर दो अब तो, भवसागर से पार ॥ करो० ॥

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

बेलूड़ मठ (हावड़ा)
बंगाल, भारत
२ मार्च, १८९८

प्रिय मेरी,

मैंने मदर चर्च को जो पत्र लिखा है, आशा है, उससे तुमको मेरा समाचार मिल गया होगा। तुम सब, तुम्हारा सारा परिवार, मेरे प्रति इतना ममतालु है। लगता है, जैसा कि हम हिन्दू कहा करते हैं, निश्चय ही पूर्वजन्म में मैं तुम लोगों से सम्बन्धित रहा होऊँगा।

करोड़पति आविर्भूत नहीं होता, मुझे केवल इसी बात का दुःख है और उन लोगों की मुझे तत्काल आवश्यकता है, क्योंकि निर्माण तथा संगठन के कार्य में मैं प्रतिदिन जर्जर, वृद्ध एवं चूर होता जा रहा हूँ। यद्यपि हैरियट में लाखों अच्छाइयाँ हैं, फिर भी मुझे विश्वास है कि नकद गुण के कुछ लाख ही इसको और भी प्रकाशमान बना देते; अतः तुम भी वही भूल न करना।

एक तरुण युगल के पास पति-पत्नी बनने के लिए और सब कुछ था, महज लड़की का पिता इस बात पर अड़ा था कि वह अपनी लड़की को करोड़पति के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं देगा। यह तरुण युगल निराश हो गया, लेकिन तभी एक चतुर विवाह तय करानेवाला उनकी रक्षा के लिए उपस्थित हो गया। उसने वर से पूछा कि क्या वह एक करोड़ रुपये मिलने पर अपनी नाक देने को तैयार है! उसने कहा – नहीं। तब शादी तय करानेवाले ने लड़की के पिता के सामने यह कसम खायी कि वर के पास करोड़ों का समान है, और शादी तय हो गयी। इस तरह के करोड़ों तुम न लेना। हाँ, तो तुम करोड़पति नहीं पा सकी और इसलिए मैं रुपये नहीं पा सका; अतः मुझे बड़ी चिन्ता करनी पड़ी और व्यर्थ ही घोर परिश्रम करना पड़ा। इसीलिए मैं बीमार पड़ गया। सच्चे कारण को खोज निकालने के लिए मेरे जैसे तेज दिमागवालों की जरूरत होती है, मैं अपने पर मुग्ध हूँ।

हाँ, जब मैं लंदन से लौटा तो यहाँ दक्षिण भारत में जब लोग आयोजनों तथा भोजनों में व्यस्त थे और जितना सम्भव था, उतना काम मुझसे निचोड़ रहे थे, तब

एक पैत्रिक बीमारी उभरी। उसकी प्रकृति तो सदा से ही रही थी, किन्तु मानसिक कार्य की अति ने उसे 'आत्माभिव्यक्ति' का अवसर दे दिया। शक्ति का पूर्ण ह्रास एवं अत्यधिक अवसाद उसका परिणाम हुआ और अपेक्षाकृत ठण्डे उत्तर भारत के लिए मद्रास से प्रस्थान करना पड़ा। एक दिन के विलम्ब का अर्थ था, उस भीषण गर्मी में दूसरे स्टीमर के लिए एक सप्ताह प्रतीक्षा करना। हाँ, तो मुझे बाद में ज्ञात हुआ कि दूसरे दिन श्री बरोज मद्रास पहुँचे और अपेक्षानुसार मुझे न पाकर बड़े खिन्न हुए। मैंने वहाँ उनके स्वागत और आवास का प्रबन्ध कर दिया था। उन बेचारों को क्या पता कि उस समय मैं यमलोक के द्वार पर था।

पिछली गर्मी भर मैं हिमालय में भ्रमण करता रहा। मैंने अनुभव किया कि ठण्डे जलवायु में तो मैं स्वस्थ रहता हूँ; लेकिन मैदानी इलाकों की गर्मी में ज्योंही आता हूँ, पुनः बीमार पड़ जाता हूँ। आज से कलकत्ते में गर्मी तीव्र होती जा रही है और शीघ्र ही मुझे भागना पड़ेगा। चूँकि श्रीमती बुल तथा कु० मैक्लाउड इस समय यहाँ (भारत में) हैं, इसलिए अमेरिका ठण्डा पड़ गया है। संस्था के लिए कलकत्ते के नजदीक गंगातट पर मैंने थोड़ी-सी जमीन खरीद ली है। उसमें एक छोटा-सा मकान है, जिसमें इस समय वे लोग रह रही हैं; नजदीक ही वह मकान है जिसमें इस समय मठ है; और हम लोग रहते हैं।

अतः मैं उनसे रोज ही मिल लेता हूँ और वे भारत में बहुत ही आनन्द प्राप्त कर रही हैं। एक महीने के बाद वे काश्मीर का भ्रमण करना चाहती हैं और यदि उनकी इच्छा हुई तो पथ-प्रदर्शक, मित्र तथा शायद एक दार्शनिक के रूप में उनके साथ जा सकता हूँ। इसके पश्चात् हम सब लोग परचर्चा एवं स्वतंत्रता के देश के लिए समुद्रमार्ग से प्रस्थान करेंगे।

मेरे कारण तुम्हें उद्विग्न होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि बुरा ही होना है तो मुझे उड़ा ले जाने में बीमारी को दो-तीन साल तो लग ही जायेंगे। अन्यथा वह एक अनुपकारी साथी के रूप में बनी रहेगी। मैं सन्तुष्ट हूँ। कार्य के सुव्यवस्थित करने के लिए ही मैं कठोर परिश्रम कर रहा हूँ, ताकि रंगमंच से मेरे विलुप्त हो जाने के बाद भी मशीन चलती रहे। मृत्यु पर तो मैं बहुत पहले ही – जब मैंने जीवन का उत्सर्ग कर दिया था, तभी – विजय प्राप्त कर चुका हूँ। मेरी चिन्ता का विषय केवल काम है और उसे भी प्रभु को समर्पित कर दिया है, उनको ही सब कुछ ज्ञात है।

सतत भगवत्पदाश्रित,

विवेकानन्द

– २ –

(स्वामी रामकृष्णानन्दजी को)

(सम्भवतः) मार्च, १८९८

प्रिय शशि,

तुम्हें दो बातें लिखना मैं भूल गया था।

१. गुडविन से संकेत-लिपि यानी कम-से-कम तत्सम्बन्धी प्रारम्भिक बातें तुलसी को सीख लेनी चाहिए।

२. जब मैं भारत के बाहर था, तब प्रायः प्रत्येक डाक में मद्रास के लिए मुझे पत्र लिखना पड़ता था। उन पत्रों की प्रतिलिपि भेजने के लिए मैं बार बार पत्र लिखकर हैरान हो चुका हूँ। उन पत्रों को मेरे पास भेज देना। मैं अपना भ्रमण वृत्तान्त लिखना चाहता हूँ। उन्हें भेजना न भूलना। कार्य समाप्त होते ही मैं उन्हें लौटा दूँगा।

'डान' पत्रिका की प्रति संख्या के लिए ४०/- रुपये खर्च होंगे तथा दो सौ ग्राहक मिलते ही उसका नियमित प्रकाशन हो सकेगा – यह समाचार उल्लेखनीय है। 'प्रबुद्ध भारत' की स्थिति अव्यवस्थित है, ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है; अतः उसकी सुव्यवस्था के लिए यथासाध्य प्रयत्न करते रहो। बेचारे आलासिंगा से लिए मैं अत्यन्त दुखित हूँ। उसके लिए मैं केवल इतना ही कर सकता हूँ कि वह एक वर्ष तक अपने सांसारिक उत्तरदायित्व से छुटकारा पा सके, ताकि वह 'ब्रह्मवादिन्' के लिए अपनी सारी शक्ति का प्रयोग कर सके। उससे कहना कि वह चिन्तित न हो। मुझे सर्वदा उसका ख्याल है। मेरे प्रिय वत्स, तुम्हारी भक्ति का प्रतिदान मैं कभी चुका नहीं सकूँगा!

श्रीमती बुल तथा कुमारी मैक्लाउड के साथ पुनः काश्मीर जाने की मैं सोच रहा हूँ। तदुपरान्त कलकत्ता लौटकर वहाँ से अमेरिका रवाना होना है। कुमारी नोबल (भगिनी निवेदिता) जैसी नारी वास्तव में दुर्लभ है। मेरा विश्वास है कि भाषण देने में वह शीघ्र श्रीमती बेसेंट से भी आगे बढ़ जायगी। आलासिंगा पर थोड़ा ध्यान रखना। मुझे ऐसा लग रहा है कि कार्य में निमग्न होकर वह अपने स्वास्थ्य को चौपट कर रहा है। उससे कहना कि श्रम के बाद विश्राम और विश्राम के बाद श्रम करने से ही भलीभाँति कार्य हो सकता है। उससे मेरा हार्दिक प्यार कहना।

कलकत्ते की जनता के लिए हम लोगों के दो भाषण हुए थे – एक तो कुमारी नोबल ने तथा दूसरा शरत् (स्वामी सारदानन्द) ने दिया था। वास्तव में उन दोनों ने

ही अत्यन्त सुन्दर भाषण दिये। श्रोताओं में प्रबल उत्साह देखने को मिला था। इससे मालूम होता है कि कलकत्ते की जनता हमें भूली नहीं है। मठ के कुछ लोगों को जुकाम तथा ज्वर हो गया था। इस समय सभी अच्छे हैं। कार्य सुचारु रूप से चल रहा है।

श्री माँ यहीं पर हैं। यूरोपियन और अमेरिकन महिलाएँ उस दिन उनके दर्शन करने गयी थीं। सोचो तो सही, माँ ने उनके साथ मिलकर भोजन किया! क्या यह एक अद्भुत घटना नहीं है? हम लोगों पर प्रभु की दृष्टि है; कोई डर नहीं है; साहस न खोओ, स्वास्थ्य की ओर ख्याल रखना और किसी विषय के बारे में चिन्तित न होना। कुछ देर तक तेजी से नाव चलाने के बाद विश्राम लेना चाहिए – यही सदा की परम्परा है।

नयी जमीन तथा मकान के कार्य में राखाल लगा हुआ है। इस वर्ष के महोत्सव से मैं सन्तुष्ट नहीं हो पाया हूँ। प्रत्येक महोत्सव में यहाँ की भावधारा का एक अपूर्व समावेश होना चाहिए। आगामी वर्ष में हम इसके लिए प्रयास करेंगे और उसकी पूरी व्यवस्था मैं ठीक कर दूँगा। तुम लोग मेरा प्यार तथा आशीर्वाद जानना।

इति।

विवेकानन्द

दुःख का कारण

आज संसार में बल-संचार की जितनी आवश्यकता है, उतनी और कभी नहीं थी। वेदान्त कहता है – संसार में दुर्बलता ही समस्त दुःख का कारण है, उसी से हमारे सारे दुःख-कष्ट पैदा होते हैं। हम दुर्बल हैं, इसीलिए इतना दुःख भोगते हैं। हम दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-ठगी तथा इसी प्रकार के अनेकानेक दुष्कर्म करते हैं। दुर्बल होने के कारण ही हम मृत्यु के मुख में गिरते हैं। जहाँ हमें दुर्बल बनानेवाला कोई नहीं है, वहाँ न मृत्यु है और न ही दुःख। हम लोग केवल भ्रान्तिवश ही दुःख भोगते हैं। इस भ्रान्ति को दूर कर दो, सभी दुःख चले जायँगे।

– स्वामी विवेकानन्द

स्वच्छता का महत्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)।

स्वच्छता को सभी देशों में सर्वोपरि महत्व दिया गया है। अँगरेजी में तो एक कहावत है – Cleanliness is next to godliness – अर्थात ईश्वरत्व के बाद यदि किसी की महत्ता है तो वह है स्च्छता की। यह उचित भी है, क्योंकि ईश्वर समस्त शुभ का प्रतीक है और जहाँ भी शुभत्व है, वहाँ हमें पावित्र्य का बोध होता है। पावित्र्य और शुभत्व दोनों साथ साथ चलते हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। और फिर स्वच्छता का ही तो दूसरा नाम पावित्र्य है।

सर्वप्रथम है शारीरिक स्वच्छता। हम शरीर को जल के द्वारा स्वच्छ करते हैं। हमारे वस्त्र भी साफ-सुथरे होने चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि वे धोबी के यहाँ से ही धुले और इस्त्री किये हुए हों। तात्पर्य यह कि वे मैले न हों। उसके बाद है मन की पवित्रता। मन को बुरे विचारों से बचाने का तरीका यह है कि उसे व्यस्त रखा जाय तथा अवकाश के समय उसे स्वस्थ मनोरंजन में लगाया जाय। मन खाली रहने पर बहुत उछल-कूद करता है और कई प्रकार के अवांछनीय विचारों को पाल लेता है। फिर, वाणी पर नियंत्रण भी बहुत आवश्यक है। जो वचन पूर्णतः पवित्र न हों, उनसे हमें बचना चाहिए। हमें इस प्रकार से वर्ताव करना चाहिए, जिससे दूसरे लोग भी हमारे सामने कोई अनुचित चर्चा करने का साहस न कर सकें। हमें सदैव यही प्रयत्न करना चाहिए कि शुभ विचारों का एक अन्तर्प्रवाह हमारे अन्दर बहता रहे। वह बुरे विचारों से हमारी रक्षा करेगा और हमारे चारों ओर पवित्रता तथा नैतिकता का वातावरण बनाएगा।

पर हम यह ध्यान रखें कि ऐसा कहना तो सरल है, परन्तु करना नहीं। जब हम शुभ विचार मन में उठाने की कोशिश करते हैं, तो सामान्यतः सफल नहीं होते। मन

की पवित्रता के लिए हमें कुछ बातों पर विशेष ध्यान देना होगा। पहली तो यह कि हम सोने से पहले ऐसा साहित्य न पढ़ें जो हमारी उत्तेजना को बढ़ाये और हमारी निकृष्ट मनोवृत्तियों को जगाये। कारण यह है कि हमारे सो जाने के बाद भी वह उत्तेजना हमारे अवचेतन मन को प्रभावित करती रहती है। इसका परिणाम बहुत बुरा होता है। चाहिए तो यह कि हम उस समय अपने मन को किसी पवित्र विचार या ध्वनि में लगाएँ। ज्यों-ज्यों हम निद्रा की गोद में उतरते जायँ, त्यों-त्यों उस पवित्र विचार या ध्वनि का शान्तिपूर्ण और गहरा चिन्तन करें। अपने अवचेतन मन के उपादानों को बदलने का यह सबसे प्रभावी साधन है। वास्तविक शुचिता अवचेतन मन को बदलने पर आती है। हम जाग्रत अवस्था में बलपूर्वक अपने चेतन मन को अपवित्र बातों की ओर जाने से एक बार रोक भी सकते हैं, परन्तु यदि हमारा अवचेतन मन शुद्ध नहीं हआ, तो स्वप्न में हम उन बातों का अनुभव करते हैं जिनकी ओर जाने से हमने चेतन मन को बलपूर्वक रोक दिया था। अतः मन की स्वच्छता का मापदण्ड स्वप्न है। यदि स्वप्न में भी हमारा मन अपवित्र बातों की ओर न जाय, तो समझ लेना चाहिए कि हमने मानसिक स्वच्छता हासिल कर ली है।

इस अवस्था की उपलब्धि के लिए दूसरी बात यह है कि हमें अच्छी आदतें डालनी चाहिए और उन्हें पुष्ट करना चाहिए। यह प्रक्रिया हमारे मन को शक्ति प्रदान करेगी। वास्तव में मन की दुर्बलता का कारण उसकी अस्वच्छता होती है। स्वच्छ मन शक्ति का भण्डार होता है। निर्मल हुआ मन निडरतापूर्वक सत्य का सामना करता है। मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा सत्य है और निर्मल मन मृत्यु-भय को भी जीत लेता है। वह हमें सिखाता है कि अरथी उतनी ही सत्य है, जितना कि पालना और श्मशान उतना ही सत्य है, जितनी कि सौरी। फिर एक से हम भागें क्यों और दूसरे से उत्फुल्ल क्यों हों ? न तो हम जीवन से चिपकें और न मृत्यु से भागें।

जो व्यक्ति इस प्रकार तन, मन और वचन से स्वच्छ हो जाता है, वह ईश्वरत्व के निकट पहुँच जाता है। वह मानवता के लिए वरदानस्वरूप बन जाता है। ❑

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(बासठवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, काकुड़गाछी, कलकत्ता में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर बँगला में धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। यह प्रवचनमाला को संग्रहित होकर छह भागों में प्रकाशित हुई है। इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। इसके हिन्दी अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

फलहारिणी कालीपूजा

आज आमावस्या तथा कालीपूजा है। फलहारिणी कालीपूजा के दिन ठाकुर की अवस्था का मास्टर महाशय ने वर्णन किया है। हमने वचनामृत में बाम्बार देखा है कि विशेष विशेष तिथियों अथवा दिवसों पर ठाकुर का मन भाव से परिपूर्ण रहता था। ठाकुर भावाष्टि होकर गा रहे हैं, ''माँ, तुम्हीं स्वर्ग हो, तुम्हीं मर्त्य हो, तुम्हीं पाताल भी हो।'' पिछली रात को कात्यायनी-पूजा हुई है। गोपियों ने श्रीकृष्ण को पतिरूप में पाने के लिए कात्यायनी-पूजा की थी। देवी कात्यायनी शक्ति हैं, शक्ति की कृपा होने पर ही भगवान मिलते हैं।

फलहारिणी-पूजा के दिन ठाकुर भावविभोर हैं। ठाकुर राखाल को साक्षात गोपाल के रूप में देख रहे हैं। पूजा के उपलक्ष्य में त्रैलोक्य आदि बाबू लोग उद्यान में आये हैं। ठाकुर ने पूछा, ''क्यों जी, कल नाटिका नहीं हुई ?'' उत्तर में त्रैलोक्य ने बताया कि इस बार कुछ असुविधा के कारण नहीं हुई। इस पर ठाकुर कहते हैं, ''तो इस बार जो हुआ सो हुआ। देखना, फिर ऐसा न हो। जैसा नियम है, वैसा ही हमेशा होना अच्छा है।'' रानी रासमणि देवसेवा के लिए विपुल सम्पत्ति रख गयी हैं। ठाकुर यही देखते हैं कि जिस उद्देश्य के लिए यह दान हुआ है, वह सार्थक हो। नाटिका हो या न हो, इसमें कोई खास बात नहीं है, परन्तु वे यही चाहते हैं कि दात्री की इच्छा पूर्ण हो। उनका कल्याण हो, यही सोचकर वे ऐसा कहते हैं। रानी

रासमणि जीवित नहीं हैं, फिर भी उनकी सम्पत्ति उनकी इच्छानुसार व्यय हो, इस बात पर ठाकुर की दृष्टि है। वे कितने प्रकार से उनके कल्याण की बात सोचते हैं !

ठाकुर का आचरण तथा उद्देश्य

ठाकुर का व्यवहार कई बार समझ में नहीं आता। ऊपरी तौर से उनका व्यवहार बड़ा अद्‌भुत लगता है। उनकी जीवनी पर चर्चा करते हुए 'लीलाप्रसंग'कार ने लिखा है कि ठाकुर का प्रत्येक कार्य तथा आचरण गूढ़ तात्पर्य से परिपूर्ण है। वे यदि दया करके समझायें, तभी समझा जा सकता है। अवतार के जीवन की प्रत्येक घटना लोकमंगल के लिए है। उनका प्रत्येक श्वास-प्रश्वास जगत के कल्याण हेतु है। उनका कोई भी कार्य, कोई भी प्रयास, कोई भी आचरण वृथा नहीं है। लीलाप्रसंग में लिखा है कि एक दिन ठाकुर बलराम बाबू से पूछते हैं, "अच्छा, मेरा विवाह क्यों हुआ, जरा बताओ तो ?" बलराम बाबू चुप हैं। ठाकुर थाली से थोड़ी सब्जी उठाकर स्वयं ही उत्तर देते हैं, "इसके लिए हुआ है। अन्यथा कौन इस तरह मेरे लिए रसोई पकाता ?" फिर एक दिन विवाह के प्रसंग में वे कहते हैं, "ब्राह्मण शरीर के दस प्रकार के संस्कार हैं, विवाह उन्हीं में से एक है।" फिर कभी कभी वे कहते, "जो परमहंस होते हैं, वे पहले ही भंगी-चाण्डाल से लेकर राजा-महाराजा तथा सम्राट तक के समस्त भोगों को भोगकर देख आये हैं।" 'लीलाप्रसंग'कार यहाँ पर कहते हैं कि साधारण गुरुओं के विवाह का ऐसा कारण बताने पर भी ठाकुर के विवाह का एक विशेष कारण है। त्याग का जीवन तो उन्होंने दिखाया। फिर हम लोगों को वे विवाहित जीवन के उच्च-पवित्र आदर्श भी दिखा गये हैं। विवाह न करने पर वे एक साधारण संन्यासी की श्रेणी में आ जाते। त्यागमय जीवन अंगीकार करनेवाले कुछ मुट्ठी भर लोग ही ठाकुर का आदर्श ग्रहण कर पाते। किन्तु साधारण लोगों का क्या होता ? साधारण लोग तो इस आदर्श को ग्रहण नहीं कर पाते। वे सोचते, "इन्होंने तो विवाह किया नहीं, इसीलिए इतनी ब्रह्मचर्य की बातें करते हैं।" ठाकुर का आना केवल कुछ मुट्ठी भर संन्यासियों के लिए नहीं हुआ था, वे तो सबके लिए आये थे। संसार में रहते हुए भी, संसार में न फँसकर उन्होंने संसार का निर्वाह किया; उन्हीं की भाषा में कहें, तो पाँकाल मछली की भाँति वे संसार में रहे। सबके लिए इस तरह का परिपूर्ण आदर्श अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आता।

भागवत में वर्णन आता है कि श्रीकृष्ण जब गायें चराकर आ रहे हैं, तो सब उन्हें अपने अपने भाव से देख रहे हैं। ग्वाल-बाल अपने सखा के रूप में, यशोदा गोपाल के रूप में और गोपियाँ प्रियतम के रूप में – सब अपनी अपनी दृष्टि से देख रहे

हैं। यह आंशिक देखना हुआ। विभिन्न क्षेत्रों में मानव-रूप में जो अभिव्यक्ति है, वह उस रूप में व्यक्त नहीं होती। समस्त क्षेत्रों में स्वयं के जीवनयापन के माध्यम से उनकी साधना को जारी रखा जाता है तथा इस आदर्श का अनुसरण करते हुए साधारण मनुष्य भी अपनी साधना जारी रख सकता है। इस आदर्श को ठाकुर जिस तरह से दिखा गये हैं, उस तरह से अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आता। ठाकुर की प्रत्येक बात में गूढ़ तात्पर्य निहित है – यह बात हमें याद रखनी होगी।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "हाजरा मुझे उपदेश देता है कि तुन इन लड़कों के लिए इतनी चिन्ता क्यों करते हो ? माँ ने दिखाया कि वे ही मनुष्य बनी हैं। शुद्ध आधार में उनका प्रकाश स्पष्ट होता है।" ठाकुर लड़कों के साथ आनन्द किया करते हैं। उनके लिए व्याकुल होते हैं। नरेन्द्र को देखने के लिए उनके प्राण छटपटाया करते हैं। ठाकुर सोचते हैं कि ऐसा क्यों हुआ। भोलानाथ मन्दिर के एक मुंशी थे। ठाकुर ने उनसे पूछा, "ऐसा क्यों हो रहा है ?" इसके उत्तर में भोलानाथ ने बताया, "महाभारत में लिखा है कि समाधिवान पुरुष का मन जब नीचे उतरता है, तो उन्हें सत्त्वगुणी लोगों का संग अच्छा लगता है।" जब उनका मन बाह्य जगत में रहता है, तब वे उसे किसी शुद्ध आधार के आकर्षण में उतारे रखते हैं। इसीलिए सत्त्वगुणी बालकों के प्रति उनके मन में आकर्षण है।

ठाकुर पुरानी बातें बताते हैं। अपनी प्रेमोन्माद अवस्था की बातें कह रहे हैं। उस उन्माद को देखकर सबने सोचा था कि ये पागल हो गये हैं। इसीलिए विवाह की व्यवस्था हुई। उनका मन घर-गृहस्थी में लग जायगा, यही सोचकर ठाकुर का विवाह कर दिया गया। हमने ठाकुर की जीवनी में देखा है कि उनका मन ऐसा गठित हुआ था कि किसी भी तरह संसार में लिप्त नहीं हुआ।

ठाकुर अपनी साधनावस्था की बातें कहते हैं। उन दिनों थोड़े से ही उद्दीपन हो जाता था। वेश्या को देखकर सीता का उद्दीपन हो गया। किले के मैदान में एक अंग्रेज लड़का त्रिभंग होकर पेड़ के सहारे खड़ा था। देखते ही उनके मन में श्रीकृष्ण की याद आ गयी। शिहड़ गाँव में उन्होंने कई चरवाहों को भोजन कराया – देखा मानो साक्षात व्रज के ग्वाल-बाल हैं। प्रत्येक कार्य में उसी भगवद्भाव का आभास लगा रहता। किसी अत्यन्त साधारण घटना या तुच्छ दृश्य से भी वही भाव घनीभूत हो उठता। उन दिनों प्रायः उन्हें होश नहीं रहता था। मथुर बाबू ने उन्हें ले जाकर कुछ दिन अपने जॉनबाजार के मकान में रखा था। वे वहाँ पर अन्तःपुर में रहते, परन्तु जरा भी लज्जा का अनुभव नहीं करते। उन्हें ऐसा लगता मानो वे भी उन स्त्रियों में एक

हैं। उनके मन में यही भाव रहता कि वे साक्षात 'माँ की दासी' हो गये हैं। उन्होंने भिन्न भिन्न भावों में अवस्थान किया है। वे हमेशा एक ही भाव में नहीं रहते थे। भक्तगण को चाहिए कि वे उनके किसी एक रूप को देखकर यह न सोच बैठें कि वे बस इतने ही हैं और कुछ नहीं। वे जो सर्वदेवदेवी-स्वरूप हैं, यह बात याद न रखने पर ठाकुर को पूर्णरूप से ग्रहण नहीं किया जा सकेगा।

ठाकुर के जीवन का यह जो दृष्टान्त है – स्त्रियों के साथ अन्तःपुर में निवास करना, उनके साथ घुलमिल जाना – क्या हमें भी इसका अपने जीवन में अनुसरण करना चाहिए? नहीं, ठाकुर ने ऐसा नहीं कहा। उन्होंने पुरुषों को स्त्रियों से सावधान रहने को कहा है। यह सावधानी स्त्री-पुरुष दोनों के लिए ही है। किसी को घृणा की दृष्टि से अथवा छोटा समझकर यह बात नहीं कही गयी है। ऐसा वे इसलिए कहते हैं, ताकि सभी अपने अपने भाव में स्थिर रहकर जीवन में आगे बढ़ सकें। इस मेलजोल से चंचलता आती है, इसीलिए इतनी सतर्कता की आवश्यकता है। ठाकुर जब जॉनबाजार में थे, तो मथुर बाबू के घर में वे जिस तरह घुलमिल गये थे, मन के कितने शुद्ध होने पर वैसे रह पाना सम्भव है, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। पुराणों में एकमात्र शुकदेव की कथा है, जिनमें रंचमात्र भी देहबुद्धि नहीं है। स्नान करती हुई अप्सराएँ शुकदेव को देखकर जरा भी लज्जित नहीं हुईं। जैसे किसी वृक्ष को देखकर अथवा एक नन्हें शिशु के सामने लज्जा का अनुभव नहीं होता, वैसे ही शुकदेव को देखकर भी उन्हें लज्जा का बोध नहीं हुआ। स्त्रियाँ कहती हैं – ठाकुर ऐसे लगते मानो वे भी हममें से ही एक हैं। ❑ (क्रमशः) ❑

धर्म की उपयोगिता

क्या धर्म रोटी और कपड़े का प्रबन्ध कर सकता है? हाँ, कर सकता है। यह तो हमेशा से ऐसा ही करता आ रहा है। और इतना ही क्यों, इससे असंख्यगुना अधिक काम करता आ रहा है – यह मनुष्य को शाश्वत जीवन प्रदान करता रहा है। आज मनुष्य जिस स्थिति में है, वह धर्म की बदौलत ही है। धर्म ही इस नरपशु को ईश्वर बना देगा। यह है धर्म की क्षमता। मानव-समाज से धर्म को निकाल दो, तो फिर शेष क्या बचेगा? पशुओं से भरे जंगल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

– स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (२८/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीराचरितमानस' के 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके अट्ठाइसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेवबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

लंका की इस झाँकी में प्रभु ने चार व्यक्तियों को स्थान दिया है। वे हैं – सुग्रीव, विभीषण, अंगद और हनुमान। यह झाँकी गोस्वामीजी को इसलिए भी पसन्द है कि यहाँ पर भगवान ने क्रम को उलट दिया है। आपके यहाँ जब कोई पूजनीय व्यक्ति आता है, तो आप उन्हें सबसे ऊँचा स्थान देते हैं और उसके बाद बाकी लोगों को वरीयता क्रम से यथायोग्य आसन देते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो भगवान ने इस चारों व्यक्तियों को जो स्थान दिया है, उसके अनुसार इनमें से सर्वश्रेष्ठ कौन है ? हनुमानजी। उसके बाद हैं अंगद। अंगद के बाद विभीषण हैं। और अन्त में सबसे साधारण चरित्र है सुग्रीव का। परन्तु इस झाँकी में भगवान ने स्थान का क्रम ही उलट दिया है। सुग्रीव को तो बैठा दिया है सिरहाने और हनुमानजी बायें चरण की ओर। अंगद और हनुमान के बीच भी चुनाव किया, तो दाहिना चरण अंगद की गोद में और बाँया हनुमानजी की गोद में। क्रम उलट दिया है। क्यों ? इसलिए की यह कृपा की झाँकी है न !

यहाँ ज्ञान, भक्ति या कर्म का पक्ष नहीं, बल्कि कृपा का पक्ष है। ज्ञान की सभा में ज्ञानियों को, भक्ति की सभा में भक्तों को, कर्म की सभा में धार्मिकों को महत्व दिया जाता है और कृपा की सभा में जो जितना ही अधिक दीन है, उसे उतना ही अधिक सम्मान दिया जाता है। सुग्रीव से बढ़कर कोई स्वार्थी नहीं और भगवान ने सबसे ऊँचा स्थान उन्हीं को दिया। जब कोई स्वार्थी व्यक्ति आता है, तो हम लोग उसे सम्मान नहीं देते, परन्तु भगवान कहते हैं कि तुम्हारा आना ही तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा है; अब हम तुम्हें ही सबसे अधिक सँभाले रहेंगे। और लोगों का हो न हो, परन्तु तुम्हारा सम्मान किये बिना काम नहीं चलेगा।

भगवान विश्राम कर रहे हैं। सुग्रीव की गोद में उनका सिर है। विभीषण उनके कान के पास बैठे हैं। अंगद तथा हनुमानजी उनके चरणों में बैठे हुए हैं। बड़ा अनोखा क्रम है। गोस्वामीजी से जब पूछा गया कि यह झाँकी देखकर आपको क्या प्रेरणा मिली, तो उन्होंने एक बड़ी भावपूर्ण बात कही। बड़ा ही मधुर संकेत देते हुए वे बोले – भाई, अगर प्रभुकृपा की दृष्टि से विचार करें, तो निःसन्देह सुग्रीव तथा विभीषण को विशेष महत्व दिया गया है, परन्तु यदि बँटवारे की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें दो पक्ष हैं। एक दृष्टि से तो सुग्रीव तथा विभीषण महत्वपूर्ण हैं और दूसरी दृष्टि से अंगद तथा हनुमानजी। चारों का वर्णन करने के बाद अंगद तथा हनुमानजी का वर्णन करते समय गोस्वामीजी ने एक शब्द और जोड़ दिया –

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरण कमल चापत बिधि नाना ॥ ६/११/७

यद्यपि चारों भाग्यवान हैं, परन्तु अंगद तथा हनुमान बड़े भाग्यवान हैं। यह कहने की क्या आवश्यकता थी? लगता है कि अंगद तथा हनुमानजी को कोई महत्व नहीं दिया गया है। गोस्वामीजी ने कहा – भाई, यदि केवल व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो लगता है कि विभीषण तथा सुग्रीव को महत्व प्राप्त है, परन्तु यदि अन्तरंग दृष्टि से देखें तो वस्तुतः अंगद तथा हनुमान बड़े भाग्यवान हैं। भगवान राम ने किष्किन्धा का राजपद सुग्रीव को दे दिया, जो सिरहाने बैठे हुए हैं और लंका का राजपद विभीषण को दे दिया, जो कान के पास बैठे हुए हैं। जब ये दोनों पद बँट गये, तब भगवान ने अपने दोनों पदों (चरणों) को भक्तों में बाँट दिया। अपना एक पद अंगद को और दूसरा हनुमानजी को दे दिया। पदों का बँटवारा तो प्रभु ने कर दिया। सभी को एक एक पद प्राप्त हो गये, परन्तु इस बँटवारे की गोस्वामीजी ने बड़ी मधुर व्याख्या कर दी। उन्होंने कहा – भाई, पद तो सभी को प्राप्त हुए, लेकिन इसमें थोड़ा अन्तर है। कुछ लोगों को तो प्रभु ने राजपद दिया और कुछ को अपना स्वयं का पद।

अब राजपद और रामपद में एक बहुत बड़ा अन्तर तो यह है कि राजपद के छिन जाने का भय बना रहता है। व्यक्ति जब पद को अपनी योग्यता का प्रमाणपत्र मान लेता है, तब उसमें उसे किसी के अनुग्रह की अनुभूति नहीं होती और उसे वह अपने सामर्थ्य से बनाये रखने की चेष्टा करता है और साथ-ही-साथ उसे पद छिन जाने का भय भी बना रहता है। उसे अपने पद में बड़ी आसक्ति होती है। परन्तु कभी-न-कभी तो उसे वह पद छोड़ना ही पड़ता है। बहुधा देखा जाता है कि जब किसी सरकारी अधिकारी का कार्यकाल समाप्त हो जाता है, तब उसे अपना पद छोड़ देना पड़ता है। परन्तु उसके बाद भी व्यक्ति उसे भूलता नहीं है। अपने नाम के साथ उस

पद को जोड़े रहता है, भले वह 'भूतपूर्व' के साथ ही क्यों न जुड़ा रहे।

हमारे एक परिचित सत्संगी थे। एक बार कहने लगे, "क्या आपने भूत देखा है ?" मैंने कहा, "देख ही तो रहा हूँ। क्या आप भूत नहीं हैं ?" उन्होंने कहा, "आप मुझे भूत क्यों कह रहे हैं ?" मैं बोला, "आप स्वयं ही तो अपने नाम के साथ लिखा करते हैं – 'भूतपूर्व डिप्टी कलेक्टर'। यही तो भूतत्व है। जैसे भूत मरने के बाद भी जीवित रहता है, उसी तरह पद चला गया, परन्तु उसकी स्मृति आज भी अन्तर्मन में जीवित है। वह नहीं है, तो उसकी याद करके ही मन को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं कि हम कभी इस पद पर रह चुके हैं।"

अयोध्यावासियों ने जब भरतजी से राज्य लेने के लिए कहा, तो उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। लोगों को लगा कि भरतजी महान त्यागी हैं; उनमें पद का लोभ बिल्कुल भी नहीं है। जो पद के लोभी होते हैं, उन्हें पदलोलुप कहते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं – यह ठीक है कि सबसे बड़े त्यागी भरतजी हैं, तो फिर सबसे बड़ा पदलोलुप कौन हैं ? वे लिखते हैं –

प्रणवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥ १/१७/३-४

रामचरन का अर्थ है रामजी के पद और लुबुध माने लोलुप। गोस्वामीजी ने कहा कि उस पद के सबसे बड़े लोलुप तो भरतजी ही हैं। इसका अभिप्राय क्या है ? उन्होंने कहा कि राजपद को त्याग देने से ही भरतजी को महान त्यागी मत समझ लीजिए, बल्कि कहना होगा कि वे तो बड़े बुद्धिमान पदलोलुप हैं। उन्होंने शाश्वत पद को पाने के लिए इस क्षणभंगुर पद का त्याग किया है। यह महान त्याग है या महान पदलोलुपता ? बल्कि भरतजी के जीवन में लोभ की चरम सार्थकता है। तात्पर्य यह है कि जिस पद को प्राप्त करके अनन्त रस का पान करना है, जिस पद के चले जाने, छिन जाने, पदच्युत हो जाने का भय नहीं है, जो शाश्वत पद है, उस पद के लिए लोभ ही तो लोभ की चरम सार्थकता है। धन्य है ऐसी पदलोलुपता !

इस पद में वह समस्या नहीं है, जो अन्य पदों के साथ जुड़ी हुई है। अन्य पदों से अलग हो जाने पर जो भूत उसके साथ जुड़ जाता है, वह भूत इस पद में नहीं है। यह तो शाश्वत पद है। जिसे एक बार राम का पद प्राप्त हो जाय, जो एक बार प्रभु का सेवक हो जाय, उसे कभी रिटायर नहीं होना पड़ता, उसे उस पद से कभी हटाया नहीं जाता। उसे कभी यह नहीं लिखना पड़ता कि ये राम के 'भूतपूर्व सेवक' हैं या 'भूतपूर्व भक्त' हैं। अन्य पदों के साथ और संसार की तो बात ही क्या, स्वर्ग के पदों

के साथ भी यही समस्या है। स्वर्ग का पद बड़ी साधना और बड़े पुण्य के बाद मिलता है। जब कोई व्यक्ति सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता है, तब उसे इन्द्रपद की प्राप्ति होती है। परन्तु इन्द्रपद की प्राप्ति हो जाने के बाद भी उस बेचारे को दोहरी चिन्ता बनी रहती है। एक चिन्ता तो यह कि पुण्य समाप्त हो जाने पर इन्द्रपद से च्युत होना पड़ेगा और दूसरी चिन्ता यह रहती है कि पुण्य समाप्त होने के पहले ही कहीं कोई दैत्य स्वर्ग का राज्य न छीन ले।

दैत्यों की मान्यता क्या है ? देवता और दैत्यों की मान्यता में मूलतः भेद इतना ही है। जो यह मानता है कि सही साधन के द्वारा ही वस्तु को पाना चाहिए, वह तो देवता है और जो यह समझता है कि साधन सही हो या गलत, वस्तु को पाना ही एकमात्र उद्देश्य है और गलत साधन से वस्तु को पाने में जिसे संकोच नहीं है, वह दैत्य है। पुराणों में इसका संकेत मिलता है। जो यज्ञ तथा पुण्य के द्वारा इन्द्रपद प्राप्त करते हैं, वे देववृत्ति वाले हैं। परन्तु दैत्य कहते हैं कि कौन यह सब करता रहे, इतना समय कहाँ है, इतनी प्रतीक्षा करने की क्या जरूरत, हम अपने बाहुबल से इन्द्र को हराकर उनके सिंहासन पर बैठ जायेंगे। यही असुरों का दर्शन है। जो अपने बाहुबल पर भरोसा रखते हैं, उनका कहना है कि रहने दो यह नियम कि यज्ञ तथा पुण्य करने पर स्वर्ग का राज्य प्राप्त होगा, हम तो उसे छीनकर भी प्राप्त कर सकते हैं। पुराणों में बारम्बार ऐसा हुआ भी है। इस कारण बेचारे इन्द्र स्वर्ग का राज्य पाकर भी इस दोहरी चिन्ता के कारण सुख की नींद नहीं ले पाते।

एक बार गोस्वामीजी बड़ी सुख की नींद सो रहे थे। उनके एक मित्र नाभादास जी ने उन्हें जगाकर पूछा – आप सो रहे थे ? गोस्वामीजी ने जागनेवालों का नाम गिनाया और बताया कि कौन कौन लोग जागते रहते हैं –

जागैं जोगी जंगम जती जमाती ध्यान धरैं,
डरैं उर भारी लोभ मोह कोह काम के ।।
जागैं राजा राजकाज सेवक-समाज साज,
सोचैं सुनि समाचार बड़े बैरी बाम के ।।
जागैं बुध बिद्या हित पंडित चकित चित,
जागैं लोभी लालच धरनि धन धाम के ।।
जागैं भोगी भोग हीं बियोगी रोगी रोग बस,
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के ।।

इसमें उन्होंने राजा और बड़े पदाधिकारियों का भी नाम लिया है। बेचारे एक ही

चिन्ता में डूबे रहते हैं कि हमारा कोई प्रतिद्वन्द्वी या कोई शत्रु तो उत्पन्न नहीं हो गया है, जो हमें परास्त कर दे। विश्राम के लिए पलंग पर लेटकर भी वे आनन्द की अनुभूति के स्थान पर ईर्ष्या तथा दुश्चिन्ताओं में जल रहे होते हैं। दुनिया में सबसे बढ़िया पलंग किसका रहता है ? जो राजा है, जो लोग ऊँचे पदों पर आसीन हैं, उन्हीं का पलंग सबसे बढ़िया रहता है। उस सबसे बढ़िया पलंग को देखकर दूसरों को ईर्ष्या होती है कि काश, हम भी ऐसे पलंग पर सो पाते ! परन्तु उन्हें क्या पता कि इस पलंग पर सोनेवाले बेचारों को नींद नहीं आती है। बस पलंग ही सुन्दर है, नींद सुन्दर नहीं है। क्योंकि उस पलंग पर सोकर भी वह निरन्तर चिन्ता और ईर्ष्या की आग में जलते हुए छटपटाता रहता है। चाहे स्वर्गवाली इन्द्र के मन में हो, या मृत्युलोक में किसी पद पर आसीन किसी व्यक्ति के जीवन में, यही है वह ईर्ष्या की वृत्ति, जो सर्वत्र दिखाई देती है।

इस नारद-प्रसंग में इन्द्र को भय असुरों से नहीं, मुनि से हो रहा है। देवर्षि नारद तपस्या क्यों कर रहे हैं ? निश्चय ही वे स्वर्ग पर, मेरे इन्द्रपद पर अधिकार कर लेने के लिए ही तपस्या कर रहे हैं। यद्यपि वे असुरों के समान गलत मार्ग से मेरे स्वर्ग को छीनना नहीं चाहते; वे तपस्वी है, मुनि हैं, इसलिए विधिपूर्वक तपस्या करके पाना चाहते हैं, परन्तु उद्देश्य तो स्वर्ग पाना ही है। इन्द्र ने सत्य क्या है, उसे तो छोड़ दिया और एक काल्पनिक भय से चिन्तित तथा ईर्ष्याग्रस्त हो गये। ईर्ष्या किससे ? नारद से। बड़ा ही विचित्र व्यंग्य है। भोगी को भोगी से ईर्ष्या हो तो बात समझ में आती है, परन्तु यहाँ तो भोगी में मन में तपस्वी से ईर्ष्या हो गयी, क्योंकि वह भोग को इतनी बड़ी वस्तु मानता है कि दूसरे में तप देखकर वह कल्पना करता है कि तपस्या के मूल में भोग की ही वृत्ति होगी। इन्द्र की धारणा थी कि नारद स्वर्ग का भोग पाने के लिए ही तपस्या कर रहे हैं। इन्द्र की आलोचना करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं –

सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज ॥ १/१२५

कुत्ता तो सूखी हड्डी चबा रहा था। उधर से सिंह निकला। ज्योंही कुत्ते ने सिंह को आते देखा, तो उसने सोचा – अरे, यह कहीं मेरी हड्डी छीनने के लिए तो नहीं चला आ रहा है ! और वह हड्डी को लेकर भागा।

इन्द्र के मन में लज्जा नहीं है, वे चिन्तित हैं कि कहीं देवर्षि नारद मेरे स्वर्ग पर

अधिकार न कर लें। तब वे कामदेव को बुलाकर कहते हैं कि स्वर्ग की अप्सराओं को लेकर जाओ और नारद को तपस्या से विरत करो। इन्द्र ने नारद का विनाश कर देने या मार डालने की चेष्टा नहीं की। ऐसी दुर्वृत्ति उनके मन में नहीं आयी। उन्होंने बड़ी चतुराई से सोचा कि नारद आखिर स्वर्ग के भोग ही तो चाहते हैं, तो क्यों न हम उन्हें अभी ऐसे भोग दे दें कि स्वर्ग पर अधिकार करने की उनकी इच्छा शान्त हो जाय और वे तपस्या का परित्याग कर दें।

इस तरह से इन्द्र के मन में पहले ईर्ष्या का प्रादुर्भाव होता है और वे कामदेव को नारद के पास भेजते हैं। परन्तु बाद में इस ईर्ष्यावृत्ति का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विस्तार हुआ है। काम ने जाकर नारदजी पर आक्रमण किया। अप्सराओं का नृत्य-संगीत और विहार देखकर भी नारद के मन पर रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। काम भयभीत हो गया कि नारदजी कहीं उसे दण्ड न दे दें। परन्तु नारदजी ने मुस्कुराकर उसे पास बुलाया और क्षमा कर दिया। उन्होंने कहा – डरो मत। भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हें तो इन्द्र ने भेजा है, तुम्हारे ऊपर मुझे जरा भी क्रोध नहीं है। जाकर तुम इन्द्र से कह देना कि मुझे स्वर्ग का राज्य नहीं चाहिए।

ऐसा लगा कि नारदजी ने काम, क्रोध तथा लोभ – तीनों को जीत लिया है। परन्तु बड़ी विचित्र विडम्बना होती है। काम-विजय के बाद नारद जब चले, तो कहाँ गये ? कामारि के पास। सबसे पहले शंकरजी के पास गये। इसके पीछे मनोविज्ञान क्या है ? ईर्ष्या का सूक्ष्म रूप नारदजी के चित्त में अंकुरित हुआ है। इन्द्र से यह नारदजी में संक्रमित हो गया है। शंकरजी जगत में कामारि के रूप में प्रसिद्ध हैं। नारद सोचने लगे – चलकर थोड़ा देखें कि कहीं शंकरजी को मुझसे ईर्ष्या तो नहीं हो गयी है। यह उनकी बड़ी विचित्र खोज थी। कल्पना करने लगे वे कि इन्द्र को तो मुझसे ईर्ष्या हुई थी, पर अब शंकरजी को भी हो रही होगी। इन्द्र तो मुझे तपस्या करते देखकर भयभीत हो गया कि मैं उसके स्वर्ग को पाने के लिए तपस्या कर रहा हूँ और अब शंकरजी ने सुना होगा कि मैंने काम को जीत लिया है, तो उन्हें भी ईर्ष्या हो रही होगी, क्योंकि अब तो उनका कोई प्रतिस्पर्धी ही नहीं था। दोनों में ईर्ष्या व्याप गयी – भोगी में और त्यागी में भी। सोचा कि चल कर देखें, जरा आनन्द लें। अपनी महिमा दूसरों को सुनाकर, दूसरों को जलाकर भी लोग आनन्द लेते हैं। सोचते हैं कि जरा अपनी बात सुनाकर देखें कि उनको कितनी जलन होती है। नारद पहुँच गये शंकरजी के पास और सुनाने लगे –

मार चरित्र शंकरहि सुनाए। १/१२७/६

उन्होंने बताया कि कैसे काम ने उन पर आक्रमण किया, कैसे उन्होंने उसे पराजित कर दिया और इतना ही नहीं, उन्हें उस पर क्रोध भी नहीं आया। नारदजी ने मानो शंकरजी पर व्यंग्य किया कि भले ही आप काम के विजेता रहे हों, परन्तु क्रोध तो आपको आ ही गया था न। मैंने तो दोनों को ही जीत लिया। देवर्षि उन्हें अपनी आत्मकथा सुना रहे हैं और मानो उनके अन्तःकरण को उकेर कर देखना चाहते हैं कि उन्हें कितनी ईर्ष्या हो रही है। फिर पूछते हैं कि मेरी यह विजयगाथा आपको कैसी लगी। भगवान शंकर के हृदय में भला ईर्ष्या के लिए स्थान ही कहाँ ? वे तो नित्य आत्मतत्त्व में स्थित हैं, उनमें भेददृष्टि का पूर्णतया अभाव है। परन्तु नारदजी बैठे हैं अपने देहाभिमान पर और शंकरजी को भी उसी देहात्म-दृष्टि से देख रहे हैं।

लंकाकाण्ड में सिंहिका ईर्ष्या की प्रतीक है और वह देहाभिमान के समुद्र में निवास करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ देहाभिमान है, वहीं ईर्ष्या भी है। आत्मा को लेकर ईर्ष्या नहीं हो सकती। जहाँ व्यक्ति को दिखायी दे रहा हो कि एक ही आत्मतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, वहाँ ईर्ष्या भला किससे होगी ? स्वयं अपने से ईर्ष्या करने में तो कोई संगति ही नहीं है। जहाँ पर देहाध्यास इतना प्रबल है कि मनुष्य अपने देह के रूप में स्वयं को सर्वथा एक पृथक व्यक्ति समझता है, वहाँ ईर्ष्या का उदय हुए बिना नहीं रह सकता। यह द्वैत का परिचायक है।

भगवान शंकर को नारद की स्थिति पर दया आयी। उन्होंने कहा –

बार बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनावहु मोही ॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ॥१/१२७/७-८

– मुनिजी, मैं आपसे बारम्बार विनती करता हूँ कि यह कथा आपने जिस प्रकार मुझे सुनाया है, भगवान विष्णु को मत सुनाइयेगा। और यदि वे स्वयं यह प्रसंग उठायें, तो भी छिपा जाइयेगा।

नारदजी मन-ही-मन हँसकर बोले – वाह रे ईर्ष्या, जरा शंकरजी की हालत तो देखो ! ये नहीं चाहते कि मेरी कीर्ति संसार में फैले, इसीलिए उपदेश दे रहे हैं कि इस बात का प्रचार मत करना। और इसका परिणाम क्या हुआ ? कितना विचित्र व्यंग्य है ! एक काल्पनिक आशंका से इन्द्र नारदजी से ईर्ष्याग्रस्त हो गये और वैसी ही एक कल्पना से ईर्ष्याग्रस्त नारदजी ने यह सोच लिया कि शंकरजी को मुझसे ईर्ष्या हो गयी है। इसके बाद जब वे भगवान विष्णु के पास गये, तो भगवान उनके स्वागत

में खड़े हो गये और उनकी प्रशंसा करने लगे। नारदजी तो गये ही थे अपनी विजयगाथा सुनाने, अतः शुरू कर दिया उन्होंने। बीच बीच में वे यह भी देख रहे थे कि इनको मेरी कथा कैसी लग रही है। परन्तु भगवान विष्णु ने ज्योंही उनकी विजयगाथा सुनी, वे हाथ जोड़कर बोले – नारदजी, आप तो इतने महान है कि आपके स्मरण मात्र से दूसरों के दोष दूर हो जाते हैं –

रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान॥ १/१२८
ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥ १/१२९/२

इस पर नारदजी को बड़े आनन्द तथा सन्तोष की अनुभूति हुई। उन्होंने सोचा कि भगवान विष्णु ईर्ष्यालु नहीं हैं। शंकरजी को तो मुझसे ईर्ष्या थी, परन्तु भगवान विष्णु मेरी विजय सुनकर मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। इनके मन में ईर्ष्या नहीं है। परन्तु नारदजी की यह धारणा कितने दिनों तक रही ? जब विश्वमोहिनी ने भगवान के गले में जयमाला डाल दिया और भगवान उसे लेकर चले गये, तब क्या हुआ ? तब उनकी यह धारणा क्षण भर में ही बदल गयी। कहने लगे –

देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥ १/१३६/३

क्रोध में भरे हुए नारदजी जा रहे हैं – भगवान विष्णु ने मेरा इतना अपमान करा दिया; या तो मैं इन्हें शाप दूँगा या आत्महत्या कर लूँगा। भगवान रास्ते में ही मिल गये। और मिले भी तो कैसे ? एक ओर लक्ष्मीजी और दूसरी ओर वही राजकुमारी विश्वमोहिनी, जिससे कि नारदजी विवाह करना चाहते थे। नारदजी ने ज्योंही भगवान को देखा, त्योंही उनकी एक नयी स्तुति आरम्भ कर दी। फिर वही ईर्ष्या का रोग, फैलते फैलते उसने ऐसा व्यापक रूप धारण कर लिया कि शंकरजी के बाद अब उन्हें भगवान विष्णु में भी ईर्ष्या दिखाई देने लगी। मन के रोगों के साथ यही एक बड़ी मनोवैज्ञानिक समस्या है कि वह स्वयं को रोगी न मानकर सामनेवाले को ही रोगी मानता है। जब भगवान विष्णु ने नारदजी को प्रणाम करके पूछा –

मुनि कहँ चले बिकल की नाईं॥ १/१३६/५

आप इतने विकल के समान कहाँ जा रहे हैं ? नारदजी ने कहा – तुम्हारे पास ही आ रहा था। – क्यों ? बोले –

तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी॥ १/१३६/७

– तुम बड़े ही ईर्ष्यालु हो। और इसके साथ एक शब्द और भी जोड़ दिया – **कपट बिसेखी** – मैं तो समझता था कि ईर्ष्यालु शंकरजी ही है, परन्तु तुम तो उनसे भी

बढ़कर निकले। तुम पक्के ईर्ष्यालु हो। क्योंकि शंकरजी ने तो इतना ही कहा था कि मैं अपनी विजय की कथा किसी को न सुनाऊँ, परन्तु तुम तो मुझे जलाने के लिए विश्वमोहिनी के साथ विवाह करके मेरे सामने ही मुझे इस प्रकार अपमानित करने की चेष्टा कर रहे हो। तुम्हारे समान ईर्ष्यालु तो अब तक कोई हुआ ही नहीं। इसके बाद इसकी व्याख्या करते हुए कह दिया कि तुम तो इतने बड़े ईर्ष्यालु हो कि –

मथत सिंधु रुद्रहु बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि बिषपान करायहु॥ १/१३६/८
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु॥ १/१३६

उपरोक्त शब्दों में नारदजी भगवान पर ईर्ष्या आरोपित करते हैं। अभिप्राय यह है कि ईर्ष्यालु व्यक्ति अपनी ही ईर्ष्यावृत्ति को दूसरों पर आरोपित करता है तथा अपनी श्रेष्ठता के अभिमान पर प्रतिकूल आघात होने पर वह सामनेवाले पर ही दोषारोपण करता है। इस रोग के संक्रमण से इन्द्र तो क्या, नारद जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति भी नहीं बच पाते। एक ओर जहाँ इन्द्र अपनी ईर्ष्यावृत्ति को नारद जैसे महान चरित्र पर आरोपित कर देते हैं, वहीं नारद जैसे महान चरित्र भी उससे आक्रान्त होकर भगवान शंकर और भगवान विष्णु पर भी ईर्ष्यावृत्ति का आरोप कर बैठते हैं। जब नारदजी भगवान विष्णु को ईर्ष्यालु तथा कपटी कह चुके, उन्हें शाप दे चुके और –

जब हरि माया दूर निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥
तब मुनि अति सभीत हरि चरना। गहे पाहि प्रनतारति हरना॥ १/१३८/१-२

जब भगवान ने अपनी माया का संवरण कर लिया, तब वहाँ न तो लक्ष्मीजी थीं और न ही राजकुमारी। भगवान अकेले खड़े थे। आवरण हट चुका था। नारदजी ने अत्यन्त भयभीत होकर भगवान के चरणों को पकड़ लिया और कहने लगे –

मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे।
कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे॥
मृषा होउ मम श्राप कृपाला। १/१३८/४,३

– महाराज, आपके लिए मैंने कितने कठोर शब्द कह डाले, यह पाप अब कैसे मिटेगा ? मेरे मुख से आपके लिए जो शाप निकल गया था, वह मिथ्या हो जाय।

इस पर भगवान विष्णु ने उन्हें सलाह दी –

जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदयँ तुरत बिश्रामा॥ १/१३८/५

यही हमारी पौराणिक परम्परा है। यद्यपि पौराणिक कल्पना में विष्णु तथा शिव दो अलग अलग देवता हैं और उनके स्वरूप को लेकर उनमें विरोधाभास भी है। उनके बीच ईर्ष्या तथा संघर्ष की गाथा भी है, परन्तु अन्त में हर बार यह कहा गया

है कि दोनों एक हैं। यहाँ पर भगवान विष्णु भी इस नारद-प्रसंग को उसी एकत्व से समाप्त करते हुए कहते हैं –

जपहु जाइ संकर सत नामा।

जिनमें ईर्ष्या देखकर तुमने यात्रा आरम्भ की थी और अपनी विजयगाथा सुनाकर दूसरों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न करना चाहा था, उन्हीं के प्रति श्रद्धावान बनो।

नारद के साथ विडम्बना क्या है ? जब कोई दूसरों के सामने अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करता है, तो इसका क्या अभिप्राय है ? वह स्वयं यह चाहता है कि सामनेवाले व्यक्ति के मन में मेरे प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो। इस तरह के ईर्ष्या की क्रिया-प्रतिक्रिया में नारद जैसे महान व्यक्ति को भी कितना कष्ट भोगना पड़ता है, यही संकेत के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

ईर्ष्या केवल बुरे व्यक्तियों का ही नहीं, वह तो भले-से-भले व्यक्तियों का भी एक ऐसा मनोवैज्ञानिक रोग है, जो कल्पित तथा वास्तविक – दोनों ही रूपों में बड़ा दुखदाई है। ईर्ष्या के मूल में है भेददृष्टि। श्रेष्ठता तथा निकृष्टता का भेद ही अन्तःकरण में ईर्ष्या की वृत्ति को जन्म देता है। इस भेददृष्टि के निदान से ही ईर्ष्यावृत्ति का शमन हो सकता है। भगवान विष्णु ने नारदजी से जब यह कहा कि आप भगवान शंकर के नाम का जप करें, तो आपको शान्ति मिलेगी। इसका अभिप्राय यही है कि भगवान शंकर नित्य आत्मतत्त्व में स्थित हैं, उनमें भेददृष्टि तो है ही नहीं, अतः उनकी भक्ति करके तथा उनका नामजप करके ही इस भेदबुद्धि तथा ईर्ष्यावृत्ति से बचा जा सकता है। भगवान विष्णु से यह पूछा गया – महाराज, शंकरजी का क्यों, मैं आपका ही नाम क्यों न जपूँ ? तो उत्तर में उनका कहना है –मुझमें और शंकरजी में कोई भेद तो है नहीं। यह अभेद तथा एकत्व ही मूल में है, परन्तु जिन शंकरजी को केन्द्र बनाकर आपने अपनी इस ईर्ष्या तथा भेदयात्रा की शुरुआत की थी, उन्हीं शंकरजी को अब अपनी श्रद्धा तथा विश्वास का केन्द्र बनाकर अभेदवृत्ति की यात्रा आरम्भ करें, तो आपको इस ईर्ष्या की दाहकता से मुक्ति मिलेगी। वस्तुतः नारदजी इसी औषधि से स्वस्थ होते हैं। ❑ **(क्रमशः)** ❑

बिना बलिदान के कोई भी महान कार्य नहीं हो सकता। – स्वामी विवेकानन्द

श्री चैतन्य महाप्रभु (३८)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में कई प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर लिखित उनका 'श्री श्री चैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। — सं.)

११. आदर्श गृहस्थाश्रम की स्थापना, भक्तिमार्ग के चरम अनुभव, गोपीप्रेम-आस्वादन और लीला-संवरण

हरिदास ठाकुर के वृत्तान्त से यह भलीभाँति समझ में आ जाता है कि चैतन्यदेव किस प्रकार साधुसेवा करते थे और साधु-संन्यासियों के प्रति उनकी कैसी भक्ति-प्रीति थी। अपने पास आनेवाले सभी लोगों के साथ उन्होंने सदैव ऐसा ही व्यवहार किया। स्वयं गृहत्यागी संन्यासी होकर भी गृहस्थाश्रम के प्रति उनके मन में किसी भी प्रकार का विद्वेष न था; बल्कि उल्टे अनधिकारी लोगों के लिए संसारत्याग को दोषपूर्ण मानकर ऐसे लोगों को वे गृहस्थाश्रम का ही वरण करने का उपदेश देते थे। उनके गृही भक्तों में भी ऐसे कई उच्च कोटि के महात्मा थे, जिन्हें जीवनमुक्त कहा जाता है। ऐसे लोगों के प्रति वे जिस प्रकार की श्रद्धा तथा सम्मान दिखाते थे, उसका निदर्शन भी पाठकों को मिल चुका है। अन्त में गृहस्थाश्रम की गौरववृद्धि और आदर्श गृहस्थ का जीवन दिखाने के लिए उन्होंने जिस अकल्पनीय घटना का सृजन किया, अब हम उसी का उल्लेख करेंगे।

सनातन धर्म, विशेषकर उसके प्रेमभक्ति मार्ग के संरक्षण के लिए इन प्रेमिक संन्यासी ने जहाँ एक ओर रूप, सनातन, रघुनाथ आदि संसार-त्यागियों के द्वारा वैरागी (गौड़ीय वैष्णव) सम्प्रदाय की स्थापना की, वहीं दूसरी तरफ उन्होंने अपने गृही भक्त-पार्षदों के माध्यम से तदनुरूप ही वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना करके अपने द्वारा प्रचारित धर्म की सम्यक परिपुष्टि के लिए भी व्यवस्था की। जगत में त्यागी लोगों की संख्या अत्यल्प है, अधिकांश लोग गृहस्थाश्रम ही अपनाते हैं। अतः दुर्बल जीवों को अभय प्रदान करने तथा उन्हें सुगम पथ दिखलाने हेतु परवर्ती काल में उन्होंने आदर्श गृहस्थाश्रम को प्रतिष्ठित करने की ओर ध्यान दिया।

जिन्हें वे अपने ज्येष्ठ भ्राता की भाँति सम्मान देते थे और जो अनुज के समान सर्वदा उनकी आज्ञापालन में तत्पर रहते थे, वे ही परमदयालु अवधूतश्रेष्ठ नित्यानन्द बंगाल में रहकर उनकी इच्छानुसार भक्तिधर्म का प्रचार कर रहे थे। अब भी सुनने में

आता है कि उनके इस अद्भुत प्रचाररूपी भक्तिमन्दाकिनी के प्रबल बाढ़ में उन दिनों पूरा बंगाल ही डूब रहा था। नित्यानन्द प्रभु प्रतिवर्ष रथयात्रा के समय गौड़ीय भक्तों के साथ नीलाचल आते और चैतन्यदेव के संगसुख का आस्वादन करते। उस अवसर पर होनेवाले नृत्य, गीत, कीर्तन, प्रसाद-ग्रहण आदि आनन्दोत्सव की बातें पाठकों को स्मरण होंगी। इसी प्रकार कई वर्ष आवागमन करने के बाद एक बार रथयात्रा के समय अवधूतश्रेष्ठ के आने पर संन्यासी-चूड़ामणि ने उन्हें एकान्त में ले जाकर अपने अन्तर का गूढ़ भाव व्यक्त करते हुए कहा, "प्रभुपाद, गृहस्थाश्रम ही धर्म की आधारभूमि है, वही बाकी तीनों आश्रमों का आश्रयस्थल है। सद्गृहस्थ न होने पर चरित्रवान धर्मप्राण पुत्र-कन्याओं का जन्म न होने पर धर्म तथा समाज की रक्षा कौन करेगा ? आपको आदर्श गृहस्थाश्रम की स्थापना करनी होगी। एकमात्र आप ही इस गुरुभार को उठाने में समर्थ हैं।"

तान्त्रिक संन्यासी अवधूत के लिए पाणिग्रहण तथा गृहस्थाश्रम में वास करना शास्त्रविरुद्ध न था, तथापि बाल्यकाल से ही सिंह की भाँति स्वाधीन जीवन बिताने के कारण अब उनके लिए शृंखलाबद्ध होकर गृहपिंजर में निवास करना अत्यन्त कठिन था। परन्तु ये आत्मविस्मृत निर्विकार त्यागी संन्यासी कभी भी अपनी सुख-सुविधा की बात सोचकर चैतन्यदेव के आज्ञापालन में पीछे नहीं हटे थे। प्रेमिक-शिरोमणि ने निःशंक भाव से यह आज्ञा शिरोधार्य कर ली और बंगाल लौटकर उन्होंने बड़गछिया-निवासी भक्तपण्डित सूर्यदास सरखेल की बसुधा तथा जाह्नवी नामक दो भक्तिमती कन्याओं का पाणिग्रहण किया। सूर्यदास ने भी स्वेच्छया अपनी दोनों कन्याओं का उन्हें दान करके स्वयं को कृतार्थ माना।

साधु-भक्त तथा पापी-तापियों के आश्रयस्थल श्रीपाट खड़दह में अवधूत ने अपना आदर्श गृहस्थाश्रम स्थापित किया और दोनों देवियों को अपनी अनुगामिनी बनाकर 'सहधर्मिणी' संज्ञा को सार्थक किया। जिन महाप्रभु ने जीवों की शिक्षा के लिए अपनी युवावस्था में ही घर से नाता तोड़कर आदर्श संन्यासी का जीवन अंगीकार किया था, अब उन्होंने ही लक्ष्यच्युत गृहस्थों को गृहस्थाश्रम का आदर्श दिखलाने के हेतु एक प्रौढ़ अवधूत को गृही बनाया ! नित्य आनन्दमय प्रभु नित्यानन्द के लिए तो सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द विद्यमान था; संसार तथा अरण्य दोनों ही एक समान थे। उनके वंशधर अब भी विद्यमान हैं और खड़दह एक तीर्थ के रूप में सुप्रसिद्ध है। प्रभु नित्यानन्द तथा आचार्य अद्वैत के वंशधर तथा अन्य गोस्वामीगण चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग के संरक्षण तथा प्रचार में विशेष

योगदान करते आये हैं और अब भी कर रहे हैं।

सनातन धर्म तथा वैदिक भक्तिमार्ग का प्रचार करना ही चैतन्यदेव का उद्देश्य था। जिस 'जीवशिक्षा' का पथ दिखाने के लिए उन्होंने जननी के स्नेह, पत्नी के प्रेम तथा भक्तों के लगाव का डोर विच्छिन्न कर एक अकिंचन संन्यासी का वेष धारण किया था, उस महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे किसी ग्रन्थ की रचना नहीं कर गये। उनके अन्तरंग पार्षदों द्वारा रचित ग्रन्थावली से ही हम उनके द्वारा प्रचारित धर्म तथा दार्शनिक मतों का परिचय पा सकते हैं।

सृष्टिकर्ता परमेश्वर की इच्छा से उनके द्वारा सृष्ट विविध प्रकार के पदार्थों में जैसे उनके विविध प्रकार के भावों तथा रूपों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न 'कालों' तथा 'क्षेत्रों' में उनके विशेष लीलाविग्रह विद्यमान रहते हैं। दुर्बल जीवों पर कृपा तथा भक्तों को आनन्द प्रदान करने के हेतु ही लीलामय यह विचित्र लीला करते हैं। विशिष्ट 'कालों' और विशिष्ट 'क्षेत्रों' में महात्मागण इस प्रकार भगवान की जिन चिद्-विभूतियों की उपलब्धि करते हैं, उन्हीं की स्थूल मूर्त-विग्रह के रूप में स्थापना तथा पूजा की जाती है। पुण्यभूमि भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही सर्वत्र ऐसे विशिष्ट 'कालों' तथा 'क्षेत्रों' को मान्यता दी जाती रही है। यह बात और है कि समय समय पर देश की राजनीति और धर्म में सामयिक परिवर्तन के साथ-ही-साथ उनके बाह्य रूपों में भी परिवर्तन होता रहा है। कोई कोई शक्तिशाली मनुष्य अपनी गौरववृद्धि के लिए कभी कभी उन पवित्र स्थानों के परिवेश पर प्रभाव डालने का प्रयास करता है, परन्तु वह नितान्त क्षणभंगुर सिद्ध होता है। सामयिक रूप से वे प्राचीन तीर्थस्थान तथा धर्मभाव लुप्त हो जाने पर भी करुणामय जगदीश्वर की कृपा से ईश्वरीय विभूतिसम्पन्न महापुरुणगण अवतीर्ण होकर युग की जरूरतों के अनुसार उन लुप्त शास्त्रों तथा तीर्थों का पुनरुद्धार करते हैं और उन महापुरुषों के जन्म, कर्म तथा साधना के द्वारा नये नये 'काल' (लग्न) तथा 'क्षेत्रों' की महिमा प्रकट होती है। चैतन्यदेव की जीवनी पर मनन करने से इस तथ्य की ठीक ठीक धारणा हो जाती है।

भारत के सर्वमान्य अतिप्राचीन तथा प्रधानतम तीर्थक्षेत्रों में पुरीधाम अन्यतम है। परमेश्वर परमात्मा परब्रह्म श्री जगन्नाथदेव विभिन्न कालों में, विभिन्न भक्तों के समक्ष इतने भावों में प्रकट हुए हैं कि उनका कोई अन्त नहीं है। इसी कारण स्थूलदृष्टि इतिहासकार शोध करते समय श्री जगन्नाथ का स्वरूप निर्धारण करने में दिग्भ्रान्त हो जाते हैं। चैतन्यदेव को स्वयं ही पुरी की महिमा विशेष रूप से अनुभूत हुई थी और

वे श्री जगन्नाथजी तथा महाप्रसाद की महिमा का मुक्तकण्ठ से प्रचार कर गये हैं। जगन्नाथदेव का वे अपने इष्टदेव 'द्वारकानाथ' के रूप में दर्शन किया करते थे। जगन्नाथजी के प्रति उनके आन्तरिक आकर्षण का वर्णन करने में भाषा अक्षम है। प्रातःकाल ही मन्दिर में जाना उनके दैनन्दिन जीवन का प्रथम तथा प्रधान कार्य था। स्नानयात्रा के उपरान्त जब मन्दिर के पट बन्द रहा करते, तब श्री जगन्नाथ का दर्शन न कर पाने के कारण उनके लिए पुरीवास असम्भव-सा हो उठता। कभी कभी वे प्रेमविह्वल होकर उड़ीसावासियों के समान श्री जगन्नाथ को 'मणिमा' 'मणिमा'[१] कहकर सम्बोधित करते थे और कभी स्वरूप को एक विशेष उड़िया पद[२] गाने का आदेश देकर स्वयं भी आनन्दविभोर होकर नृत्य-गीत आरम्भ कर देते। उनका यह आनन्दोल्लास देखकर लोगों के विस्मय की सीमा न रहती। कभी कभी जगन्नाथजी के प्रति उनके प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में उनका शरीर अवश हो जाता, तब उनके लिए उनका पूरा नाम स्पष्ट रूप से उच्चारण कर पाना भी असम्भव हो उठता और 'ज ज' 'ग ग' कहकर किसी प्रकार वे अपने अन्तर का भाव प्रकट करने का प्रयास करते। आगे दिये गये उनके द्वारा रचित 'जगन्नाथाष्टक स्तोत्र' से पाठकों को श्री जगन्नाथ के प्रति उनकी अगाध भक्ति का किंचित परिचय मिल जायगा।

कदाचित् कालिन्दीतटविपिन संगीतकरवो
मुदाभीरीनारीवदनकमलास्वादमधुपः।
रमाशम्भुब्रह्मासुरपतिगणेशार्चितपदो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥१॥

— जो कभी आनन्दपूर्वक यमुनातट पर स्थित वन को संगीत की ध्वनि से गुंजरित करते हैं, जो गोपबालाओं के मुखारविन्द का रसास्वादन करनेवाले भ्रमर हैं, जिनके चरण लक्ष्मी-ब्रह्मा-इन्द्र तथा गणपति द्वारा पूजित हैं, वे ही जगन्नाथ स्वामी मेरे नयनपथ पर विचरण करें।

भुजे सव्ये वेणुं शिरसि शिखिपुच्छं कटितटे
दुकूलं नेत्रान्ते सहचरकटाक्षं विलसयन्।
सदा श्रीमद्वृन्दावनवसतिलीलापरिचयो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥२॥

— जो बाएँ हाथ में बाँसुरी, सिर पर मोरपंख, कमर में पीताम्बर और नेत्रों में सहज

---

१. मणिमा का अर्थ है सर्वेश्वर। उड़ीसा के निवासी अपने महाराजा तथा श्री जगन्नाथ को इस विशेषण से विभूषित किया करते हैं। २. उड़िया भाषा में वह पद इस प्रकार है - "जगमोहन परिमुण्डा जाइ। मन मातिलारे चका चन्द्रकु चाञि।"

कटाक्ष से सुशोभित होकर सदा श्री वृन्दावन में विराजते हुए लीला के द्वारा स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं, वे ही जगन्नाथ स्वामी मेरे नयनपथ पर विचरण करें।

महाम्भोधेस्तीरे कनकरुचिरे नीलशिखरे
वसन् प्रासादान्तः सहजबलभद्रेण बलिना।
सुभद्रामध्यस्थः सकलसुरसेवावसरदो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।३।।

— जो महासमुद्र के तट पर, स्वर्णिम नीलाचल के शिखर पर, प्रासाद के भीतर, सुभद्रा को बीच में करके अपने सहोदर भाई बलराम के साथ निवास करते हुए समस्त देवताओं को सेवा का सुअवसर प्रदान करते हैं, वे ही जगन्नाथ स्वामी मेरे नयनपथ पर विचरण करें।

कृपापारावारः सजलजलदश्रेणिरुचिरो
रमावाणीरामः स्फुरदमलपङ्करुहमुखः।
सुरेन्द्रैराराध्यः श्रुतिगणशिखागीतचरितो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।४।।

— जो कृपा के सागर हैं, सजल मेघमाला के समान जो साँवले वर्ण के है, जो लक्ष्मी तथा सरस्वती के आनन्दनिधान हैं, जिनका मुख प्रस्फुटित विमल कमल के समान है, जो इन्द्रों द्वारा आराधित हैं और श्रुतियाँ जिनकी लीला का वर्णन करती हैं, वे ही जगन्नाथ स्वामी मेरे नयनपथ पर विचरण करें।

रथारूढो गच्छन् पथि मिलितभूदेवपटलैः
स्तुतिप्रादुर्भावं प्रतिपदमुपाकर्ण्य सदयः।
दयासिन्धुर्बन्धुः सकलजगतां सिन्धुसुतया
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।५।।

— जो दयासिन्धु तथा सकल जग के सुहृद सिन्धुसुता लक्ष्मीजी के साथ रथ में आरूढ़ होकर मार्ग पर चलते समय, ब्राह्मणों के सम्मिलित कण्ठ से अपनी स्तुति तथा कीर्तन सुनकर करुणार्द्र हो जाते हैं, वे ही जगन्नाथ स्वामी मेरे नयनपथ पर विचरण करें।

परब्रह्मापीडः कुवलयदलोत्फुल्लनयनो
निवासी नीलाद्रौ निहितचरणोऽनन्त शिरसि।
रसानन्दो राधासरसवपुरालिङ्गनसुखो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।६।।

— जो परब्रह्म के शिरोभूषण-स्वरूप हैं, जिनके नेत्र पद्मपलाश के पुष्पों के समान खिले हुए हैं, जो नीलाचल के निवासी हैं, जो शेषनाग के मस्तक पर अपने चरण

स्थापित कर देते हैं, जो प्रेमरस में विभोर हैं और जो श्रीराधा के प्रेममय देह के आलिंगन का आनन्द लेते हैं, वे ही जगन्नाथ स्वामी मेरे नयनपथ पर विचरण करें।

न वै याचे राज्यं न च कनकमाणिक्यविभवं
न याचेऽहं रम्यां सकलजनकाम्यां वरवधूम्।
सदा काले काले प्रमथपतिना गीतचरितो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥७॥

— मुझे न तो राज्य की कामना है और न ही स्वर्ण, माणिक्य आदि वैभवों की आकांक्षा है। सर्वजन-काम्य उत्तम सुन्दरी वधू भी मैं नहीं चाहता। महादेव सदा सर्वदा जिनकी लीला का गुणगान किया करते हैं, वे ही जगन्नाथ स्वामी मेरे नयनपथ पर विचरण करें।

हर त्वं संसारं द्रुततरमसारं सुरपते
हर त्वं पापानां विततिमपारां यादवपते।
अहो दीनानाथं निहितमचलं निश्चितपदं
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥८॥

— हे देवाधिदेव, यथाशीघ्र मुझसे इस असार संसार को दूर कर दो। हे यदुपति, मेरे इस अपार पापसागर का हरण करो। हे दीनानाथ, मुझे अचल मोक्षपद प्राप्त हो और जगन्नाथ स्वामी मेरे नयनपथ पर विचरण करें।

जगन्नाथाष्टकं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः शुचि।
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ॥९॥

— जो कोई भी संयत तथा शुद्ध होकर इस पवित्र जगन्नाथाष्टक का पाठ करता है, उसका चित्त सर्व पापों से मुक्त हो जाता है और वह विष्णुलोक को गमन करता है।

चैतन्यदेव के मुखनिःश्रित 'शिक्षाष्टकम्' से उनके द्वारा प्रवर्तित भक्तिमार्ग, धर्मपथ, भजन-प्रणाली तथा साध्य-साधन-तत्त्व का संक्षेप में और साथ ही स्पष्ट रूप से बोध हो जाता है। यहाँ हम 'चैतन्य-चरितामृत' से उसके मूल श्लोकों को और साथ ही उनके भावानुवाद भी प्रस्तुत करते हैं —

भगवन्नाम-कीर्तन का महत्व

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥१॥

— जो चित्तरूपी दर्पण को स्वच्छ करता है, जो भवरूपी महा-दावानल को बुझाता

है, जो मुक्तिरूपी श्वेतपद्म पर चाँदनी बिखेरता है, जो पराविद्यारूपी वधू का प्रियतम है, जो प्रतिक्षण आनन्दरूपी सागर में ज्वार लाकर पूर्णामृत का आस्वादन करानेवाला है, जो सम्पूर्ण आत्मा को शुद्ध करनेवाला है, उस परम श्रीकृष्ण-संकीर्तन की जय हो।

भगवान एक, नाम अनेक

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पितानियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥२॥

– तुमने अपने बहुत-से नामों में अपनी सारी शक्ति पूरित कर दी है और उनका स्मरण करने में काल आदि का भी कोई नियम नहीं है। ऐसी तो तुम्हारी कृपा है, परन्तु हे प्रभो, मेरा ऐसा दुर्भाग्य है कि इस जन्म में मुझे उनमें अनुराग ही नहीं होता।

भजनप्रणाली

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥३॥

– तृण से भी अधिक विनम्र तथा वृक्ष से भी अधिक सहनशील होकर, अपने अभिमान को त्यागकर और दूसरों को सम्मान देते हुए सर्वदा हरि का संकीर्तन करते रहना चाहिए।

श्रद्धाभक्ति

न धनं न जनं न सुन्दरीं कविता वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥४॥

– हे जगदीश्वर, मैं धन-जन-सुन्दर स्त्री अथवा सर्वज्ञत्व की कामना नहीं करता; हे प्रभो, जन्म जन्म में तुम्हारे प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।

दास्यभाव

अयि नन्दतनुज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पातपङ्कज-स्थितधूलिसदृशं विचिन्तय ॥५॥

– हे नन्दलाल, इस भयंकर भवसागर में पड़े हुए मुझ किंकर को कृपया अपने पादपद्मों में स्थित धूल के समान समझिए।

प्रेमभक्ति

नयनं गलदश्रुधारया वदने गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ॥६॥

— हे नाथ, वह दिन कब आयेगा, जब तुम्हारा नाम लेते ही मेरे नेत्रों से अश्रुधारा बह चलेगी, वाणी गद्गदं होकर मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो जायगा और शरीर रोमांचित हो उठेगा।

भगवद्विरह में व्याकुलता

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे ॥७॥

— गोविन्द के विरह में मुझे क्षणमात्र भी युग के समान प्रतीत होता है, नेत्रों से वर्षाऋतु के समान अश्रुधारा बहती है और सम्पूर्ण जगत शून्य-सा प्रतीत होता है।

गोपीप्रेम

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनात् मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥८॥

— हे सखि, मुझ पदानुरक्त को वे चाहें तो अपने आलिंगन में आबद्ध कर लें, अथवा दर्शन न देकर मुझे मर्माहत करते रहें, या फिर वह मुझसे यथेच्छा व्यवहार करें, तथापि मेरे प्राणनाथ तो एकमात्र वे ही हैं, दूसरा कोई नहीं।

'शिक्षाष्टकम्' में जिस महान आदर्श की रूपरेखा दिखाई देती है, चैतन्यदेव का जीवन उसी का मानो एक सचित्र आलेख या जीवन्त निदर्शन है। चौबीस वर्ष की आयु में उन्होंने गृहस्थाश्रम को त्यागकर संन्यासाश्रम अंगीकार किया और जीवन के बाकी चौबीस वर्ष वे लोकमंगल में लगे रहे। उनके संन्यास-जीवन का जो संक्षिप्त विवरण 'चैतन्य-चरितामृतकार' ने दिया है, उसका भावानुवाद इस प्रकार है —

चौबिस वर्ष रहे प्रभु जग में, लेकर के संन्यास।
भक्तजनों के संग लीला की, नीलाचल में वास ॥
इनमें से छह वर्ष उन्होंने, पुरीधाम में रहकर।
नृत्यगीत सह प्रेमभक्ति का, वितरण किया निरन्तर ॥
सेतुबन्ध रामेश्वर तक, फिर गौड़देश वृन्दावन।
करते रहे भ्रमण वे, संग में प्रेम-नाम का वितरण ॥
इसी काल को दिया गया है, नाम मध्यलीला का।
बाकी वर्ष अठारह है, चैतन्य-अन्त्यलीला का ॥
उनमें भी छह वर्ष बिताये, भक्तजनों के संग में।
प्रेमभक्ति अभिव्यक्त किया था, नृत्यगीत-रसरँग में ॥
बाकी बारह वर्ष बिताकर, प्रभु ने नीलाचल में।
प्रेमावस्था दिखलाई, निज ही के आस्वादन में ॥

निशा-दिवस होता था उनमें कृष्ण-विरह का स्फुरण।
आवेशित उन्माद-भाव में, करते रहते प्रलपन॥
जैसे राधाजी रोयी थीं, उद्धव के आने पर।
वैसी ही वे भी उन्मत्त रुदन करते थे दिन भर॥
रामानन्द दामोदर के संग नित करते आस्वादन।
चण्डिदास, जयदेव और विद्यापति के पद गायन॥
कृष्णविरह से उनमें होता, जितना प्रेम प्रसारित।
आस्वादन कर पूर्ण कर गये, वे अपने मनवांछित॥

उनके संन्यास-जीवन के प्रथम छह वर्ष, मुख्यतः परिव्राजक के रूप में तीर्थ-भ्रमण, देशदर्शन तथा लोगों के द्वार द्वार जाकर हरिनाम तथा प्रेमभक्ति के वितरण में बीते। इसके बाद अगले अट्ठारह वर्ष वे नीलाचल छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं गये। उनमें से छह वर्ष भक्तों की शिक्षा, संघ-गठन तथा भावी प्रचार की सुव्यवस्था में व्यय हुए। जीवन के बाकी बारह वर्षों के दौरान उन्होंने भक्तिमार्ग के चरम आदर्श गोपीप्रेम को अपने जीवन में प्रतिफलित कर, उसका स्वयं रसास्वादन करते हुए जगत में प्रचारित किया। योग्य अधिकारी व्यक्तियों, विशिष्ट भक्तों तथा अन्तरंग पार्षदों पर धर्मप्रचार तथा लोकशिक्षा का उत्तरदायित्व सौंपकर चैतन्यदेव ने उन्हें विभिन्न स्थानों को भेज दिया। इसके फलस्वरूप अल्प काल के भीतर ही सम्पूर्ण देश में भगवद्भक्ति का विमल स्रोत बहने लगा और पापी-तापी तथा दीन-दुखियों के हृदय शीतल हुए।

धर्म की ग्लानि तथा जीवों के दुःख की जिस मर्मान्तक व्यथा का अनुभव करके उन्होंने अपनी स्नेहमयी वृद्ध माता तथा पतिव्रता युवा पत्नी को शोकसागर में डुबाते हुए संसारत्याग किया था, इतने दिनों बाद अब उस व्यथा का काफी कुछ उपशम हो चुका था। उनकी इच्छानुसार प्रभुपाद नित्यानन्द तथा आचार्य अद्वैत बंगाल में ही रहकर उस अंचल को प्रेमभक्ति की प्रबल धारा में डुबा रहे थे और श्रीवास आदि भक्तगण भी उन्हें सहयोग देकर उनके कार्य में विशेष सहायता पहुँचा रहे थे। दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में उन्होंने स्वयं ही भ्रमण करते हुए भक्तिमार्ग का प्रचार किया था और जगह जगह विशेष अधिकारी भक्तों पर विशेष रूप से कृपा करके भक्तिमार्ग के प्रचारक के रूप में उनका जीवनगठन कर दिया था। उन समस्त स्थानों में उन्होंने अपने हाथ से जिन बीजों का रोपण किया था, वे दिन-पर-दिन अंकुरित तथा वर्धित होते जा रहे थे। उन दिनों विधर्म तथा विजातियों के प्रभाव से उत्तर-पश्चिमी अंचल की सर्वाधिक दुर्दशा हो रही थी। इस तथ्य को विशेष रूप से ध्यान में रखकर उस

अंचल का भार उन्होंने महापण्डित, तत्त्वदर्शी तथा त्यागी भक्त रूप-सनातन के सबल कन्धों पर डाला और जैसा कि पाठक जानते हैं कि बाद में उनकी सहायता के लिए महाप्रभु ने रघुनाथ भट्ट आदि को भी उनके पास भेज दिया था। इस प्रकार चारों ओर भक्तिप्रेम-प्रचार के स्थायी केन्द्रों की स्थापना हो जाने पर चैतन्यदेव काफी कुछ निश्चिन्त हुए। ❑ (क्रमशः) ❑

भारत का भविष्य

हमारा अतीत तो गौरवमय था ही, मेरा विश्वास है कि भविष्य और भी गौरवमय होगा। अतीत से ही भविष्य का निर्माण होता है। और जितना ही मैंने अतीत का अध्ययन किया है, जितनी ही भूतकाल की ओर दृष्टि डाली है, उतना ही अपने पूर्वजों के प्रति गर्व मुझमें आता गया है। हमारे पूर्वज महान थे, यह बात हमें याद रखनी होगी। प्रत्येक सदी में बरसाती मेढ़कों के समान नये नये राष्ट्रों का उत्थान और पतन होता रहा है, वे मानो शून्य से पैदा होते हैं, थोड़े दिन खुराफात मचाकर फिर विनाश की गहराइयों में खो जाते हैं; परन्तु यह महान भारतीय राष्ट्र, जिसे अन्य किसी भी राष्ट्र से अधिक दुर्भाग्यों, संकटों तथा उथल-पुथल का सामना करना पड़ा, आज भी कायम है। क्यों एक राष्ट्र जीवित रहता है और दूसरा नष्ट हो जाता है ? जीवन-संग्राम में घृणा टिक सकती है या प्रेम ? भोग-विलास चिरस्थायी है या त्याग? भौतिकता टिक सकती है या आध्यात्मिकता?

वहाँ पाश्चात्य देशवाले इस बात की चेष्टा में लगे हैं कि मनुष्य अधिक-से-अधिक कितना वैभव संग्रह कर सकता है और यहाँ हम इस बात का प्रयास करते हैं कि कम-से-कम कितने में हमारा काम चल सकता है ! यह द्वन्द्वयुद्ध और मतभेद अभी शताब्दियों तक जारी रहेगा। परन्तु इतिहास में यदि कुछ भी सत्यता है और वर्तमान लक्षणों से भविष्य का जो कुछ आभास मिलता है, वह यह है कि अन्त में उन्हीं की विजय होगी, जो कम-से-कम वस्तुओं पर निर्भर रहकर जीवन-निर्वाह करने तथा आत्मसंयम का अभ्यास की कोशिश में हैं; और जो राष्ट्र भोग-विलास तथा ऐश्वर्य के उपासक हैं, वे वर्तमान में चाहे जितने भी बलशाली क्यों न लगें, अन्त में अवश्य ही विनाश को प्राप्त हो संसार से लुप्त हो जाएँगे।

— स्वामी विवेकानन्द

धर्म के जीते-जागते स्वरूप : रामकृष्ण परमहंस

रामधारी सिंह 'दिनकर'

(राष्ट्रकवि दिनकर द्वारा लिखित 'संस्कृति के चार अध्याय' से गृहीत प्रस्तुत लेख स्वामीजी के विषय में लिखी गयी श्रेष्ठ रचनाओं में एक है, इसकी गुणवत्ता को देखते हुए 'विवेक-ज्योति' के अप्रैल-मई-जून, १९६३ के अंक से प्रस्तुत है इसका पुनर्मुद्रण। – सं०)

आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज की सीमाएँ

स्वामी दयानन्द से परमहंस रामकृष्ण की भेंट हुई थी। स्वामीजी स्वयं रामकृष्ण के पास नहीं गये थे, परमहंस ही स्वामीजी के कलकत्ता पधारने पर उनसे मिलने आये थे। रामकृष्ण के मन पर इस भेंट का जो प्रभाव पड़ा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित हैं – "दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी-बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्षस्थल सदैव आरक्त दिखायी पड़ता था। वे वैखरी अवस्था में थे। रात-दिन लगातार शास्त्रों की ही चर्चा किया करते थे। अपने व्याकरण-ज्ञान के बल पर उन्होंने अनेक शास्त्र-वाक्यों के अर्थ में उलट-फेर कर दिया है। 'मैं ऐसा करूँगा, मैं अपना मत स्थापित करूँगा' – ऐसा कहने में उनका अहंकार दिखायी देता है।"

बहुत से बंगाली ब्राह्मसमाजी विद्वान परमहंस रामकृष्ण के अनुगत थे। उनके सिरमौर केशवचन्द्र सेन तो परमहंसजी के परम भक्तों में से थे। केशवचन्द्र सेन परमहंस रामकृष्ण के पास अक्सर जाया करते थे और रामकृष्ण भी जब-तब केशवचन्द्र सेन के घर या उनके ब्राह्म-मन्दिर में पधार जाते थे। एक बार रामकृष्ण ब्राह्म-मन्दिर में पहुँचे, तो वहाँ उपासना चल रही थी। रामकृष्ण ने वहाँ जो कुछ देखा, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है – "ईश्वर के ऐश्वर्य का बहुत समय तक वर्णन करके वक्ता महाशय बोले, 'अच्छा, अब आइये, हम सब ईश्वर का ध्यान करें।' मैं समझा, अब ये लोग बहुत समय तक ध्यानस्थ रहेंगे। पर हुआ क्या? दो मिनट में ही उनका ध्यान समाप्त हो गया। इस प्रकार के ध्यान से भी कहीं ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है? उन लोगों के ध्यान करते समय मैं सभी के चेहरे की ओर देख रहा था और ध्यान समाप्त होने के बाद मैं केशव से बोला – 'तुममें से बहुतों को ध्यानावस्थित देखकर मुझे कैसा लगा, बताऊँ? वहाँ दक्षिणेश्वर में कई बार झाऊतला की ओर वानरों का झुण्ड आता है। वे सब वानर कैसे चुपचाप बैठे रहते हैं। देखनेवाले समझते हैं, 'अहा, कितने अच्छे हैं ये! इनको लन्द-फन्द, छल-छिद्र,

कुछ भी मालूम नहीं है। ये कितने शान्त हैं!' पर, क्या वे सचमुच शान्त रहते हैं? छिः, राम का नाम लो। किसके बगीचे में फल लगे हैं, किसकी बाड़ी में ककड़ी और कुम्हड़ा है, कहाँ इमली है – यही सारे विचार उनके मन में चलते रहते हैं। बस, थोड़ी ही देर में एकदम हुप करके कूदते-फाँदते वे क्षणार्द्ध में अदृश्य हो जाते हैं और किसी बगीचे में धड़ाधड़ कूदकर उसका सत्यानाश कर डालते हैं। यहाँ भी मुझे बहुतों का ध्यान वैसा ही दिखायी दिया।"

आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज बड़े ही प्रबल सांस्कृतिक आन्दोलन थे। किन्तु उनकी जो कमजोरियाँ थी, वे रामकृष्ण को ठीक दिखायी पड़ीं। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द बाल-ब्रह्मचारी, निरीह संन्यासी प्रचण्ड तार्किक और उद्‌भट विद्वान थे और उनके व्यक्तित्व में बौद्धिकता अत्यन्त प्रमुख थी। ब्राह्मसमाज में तार्किकता अधिक नहीं थी तथा भक्ति और उपासना का भी उसमें अच्छा प्रचार था। किन्तु, ब्राह्मसमाजी लोग अपने को जितना भक्तिविह्वल दिखलाना चाहते थे, वस्तुतः उतनी भक्तिविह्वलता उनमें थी नहीं।[१] ब्राह्मसमाजियों की भक्ति, ज्ञान की नोंक से उठायी हुई चीज थी। उद्देश्य ब्राह्मसमाजियों का सामाजिक सुधार था, किन्तु अखाड़ा उन्होंने धर्म का चुना था। असल में, ईसाइयों के मुख से अपने धर्म की निन्दा सुनते सुनते वे लजा गये थे, किन्तु किसी प्रकार हिन्दुत्व की इज्जत ढँकने के लिए उन्होंने धर्म का एक साधन खड़ा कर लिया था और अपने धर्म पर अचल विश्वास नहीं रहने के कारण वे अधिकाधिक ईसाइयत की ओर ढुलके जा रहे थे। वस्तुतः उनका विश्वास हिन्दू ईसाई का विश्वास था। ऐसे लोगों में भक्ति की आकुलता उत्पन्न कहाँ से होती?

इसके सिवा, इन आन्दोलनों का एक दोष और था। हिन्दुत्व को निन्दित और आक्रान्त देखकर राममोहन राय, दयानन्द और केशवचन्द्र में यह उत्साह जगा कि हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य किया जाना चाहिये। किन्तु जब वे रक्षा को तत्पर हुए, तब उन्हें यह दिखायी पड़ा कि हिन्दुत्व का समग्र रूप रक्षित होने के योग्य नहीं है। निदान, ऋषि दयानन्द ने उतने ही हिन्दुत्व को रक्षणीय माना, जिसका आख्यान वेदों में मिलता है। अर्थात् जिसमें मूर्त्तिपूजा नहीं है, जिसमें तीर्थ-व्रत-अनुष्ठान और श्राद्ध-पद्धति का अभाव है, जिसमें अवतारवाद, स्वर्ग, नरक, देवी, देवता, कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार, राममोहन राय ने उपनिषदों का पल्ला

---

१. ब्राह्मसमाज से प्रेरित काव्य में भी भक्ति और रहस्यवाद का जो रूप उतरा, उसमें सहजता कम, बौद्धिकता अधिक थी।

थामा और वे अद्वैत को लेकर बैठ गये। किन्तु हिन्दुत्व इतना ही नहीं है। उसके अन्दर उन समस्त विश्वासों का भी स्थान है, जो अपार हिन्दू-जनता के हृदय में घर किये हुए हैं। सच पूछिये तो दयानन्द और राममोहन राय ने जिस हिन्दुत्व की रक्षा की, वह हिन्दुत्व का एक खण्ड मात्र था। यही कारण हुआ कि, यद्यपि, दयानन्द और राममोहन राय ने हिन्दू-विचारों की दिशा में महान क्रान्ति उपस्थित की किन्तु, हिन्दू-जनता का अत्यन्त विशाल भाग उनकी ओर उत्साह से नहीं दौड़ा। सच पूछिये तो हिन्दुत्व का इससे अधिक प्रतिनिधित्व श्रीमती एनी बीसेंट ने किया, क्योंकि वे शास्त्र, पुराण, स्मृति, गीता, हिन्दुओं के देवी-देवता और उनके द्वारा पूजित अवतार एवं यज्ञ और परलोक — सबकी ओर से एक समान उत्साह से बोल रही थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि जब थियोसोफी और ब्राह्मसमाज सिमटकर धनियों और विद्वानों की महफिल में बैठे रहे, तब आर्यसमाज का प्रचार समाज के कुछ विस्तृत क्षेत्रों में हुआ। किन्तु, जिसको, सचमुच जनता का मुक्त सहयोग कहते हैं, वह इन तीनों आन्दोलनों में से किसी को भी प्राप्त नहीं हो सका। हिन्दू और थियोसोफ़ी-पंडित ईसाई और मुस्लिम पंडितों से विद्या का विवाद कर रहे थे, किन्तु जनता इस विवाद से रस लेने को तैयार नहीं थी।

भारतवर्ष की परम्परा है कि यहाँ की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। पंडितों का वह सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित होनेवाली जाति नहीं है। हाँ, कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है। धर्म-धर्म चिल्लाने से धर्म का अर्थ नहीं खुलता, न मोटी-मोटी पोथियाँ रच देने से धर्म किसी की समझ में आता है। दयानन्द और राममोहन राय तथा एनी बीसेंट के प्रचारों से यह तो सिद्ध हो गया कि हिन्दू-धर्म निन्दनीय नहीं, वरेण्य है। धर्म का यह जीता-जागता रूप उसे तब दिखायी पड़ा, जब परमहंस श्रीरामकृष्ण (१८३६-१९८६ ई.) का आविर्भाव हुआ।

पण्डित और सन्त का भेद

दयानन्द, राममोहन राय तथा केवशवचन्द्र सेन से रामकृष्ण अनेक बातों में भिन्न थे। दयानन्द भारतीय परम्परा के उद्भट पंडित और ब्राह्मसमाजी नेता अँगरेजी ढंग के विद्वान थे। किन्तु, रामकृष्ण, बहुत-कुछ, अपढ़ मनुष्य थे। दयानन्द, राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन मैदान में इसलिए आये थे कि विधर्मियों की आलोचना से उन्हें चोट लगी थी। किन्तु, रामकृष्ण को किसी भी धर्म के प्रति कोई आक्रोश नहीं था। दयानन्द, राममोहन और केशवचन्द्र, संस्कृति के आन्दोलनकारी नेता थे,

किन्तु, रामकृष्ण को आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं था। वे अपनी बातें सुनाने को कमरे से बाहर नहीं गये, न हिन्दुओं से उन्होंने कभी यह कहा कि तुम्हारा धर्म खतरे में है।

पण्डित और सन्त में वही भेद होता है, जो हृदय और बुद्धि में है। बुद्धि जिसे लाख कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाती, हृदय उसे अचानक ही देख लेता है। विद्या समुद्र की सतह पर उठती हुई तरंगों का नाम है। किन्तु, अनुभूति समुद्र की अन्तरात्मा में बसती है। अनुभूति का एक कण कई टन ज्ञान से कहीं अधिक मूल्यवान है। परमहंस रामकृष्ण अनुभूतियों के आगार थे और उनके जीवन को देखकर, एक बार फिर, यह स्पष्ट हो गया कि जिसे अनुभूति प्राप्त हो जाती है, ज्ञान का द्वार उसके सामने स्वयं उन्मुक्त हो जाता है तथा सारी विद्याएँ उसे स्वयमेव उपलब्ध हो जाती हैं।

उन्नीसवीं सदी के सुधारकों के सामने विचित्र प्रकार की परिस्थिति थी। हिन्दू-धर्म बहुत दिनों से रूढ़ियों और अन्यविश्वासों से जकड़ा चला आ रहा था। किन्तु, अब अँगरेजी शिक्षा के प्रसार एवं ईसाइयों के कुप्रचार से ये रूढ़ियाँ और अन्ध-विश्वास स्पष्ट दिखायी पड़ने लगे थे। अँगरेजी भाषा और साहित्य के साथ भारतवर्ष का सम्बन्ध काफी सघन हो चुका था, किन्तु, दुर्भाग्यवश, तत्कालीन अँगरेजी साहित्य में नास्तिकता के ओजस्वी विचार भरते जा रहे थे एवं उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक अनुसन्धानों के द्वारा जिन आधिभौतिक सिद्धान्तों का पता चला था, उनसे भी यह साहित्य पूर्णरूपेण व्याप्त था। परिणाम इसका यह हुआ कि अँगरेजी भाषा के प्रचार के साथ भारत में भी नास्तिकता का प्रचार होने लगा। अतएव, भारतीय सुधारकों के सामने एक नहीं तीन शत्रु थे। १. हिन्दू-धर्म की रूढ़ियाँ एवं अन्ध-विश्वास, २. ईसाई मिशनरियों के द्वारा निरन्तर की जानेवाली हिन्दुत्व की निन्दा तथा ३. अँगरेजी पढ़े-लिखे समाज में नास्तिकता का प्रचार। इन तीन मोर्चों पर लड़ने के लिए जो ढंग और साधन अनिवार्य थे, उनका सन्धान इन सुधारकों ने कर लिया था। किन्तु, धर्म वास्तव में कैसा होता है, इसका प्रमाण वे नहीं दे सके थे।

फिलासफी नहीं, दर्शन

तर्क और पाण्डित्य से धर्म प्रामाणित किया भी नहीं जा सकता, ठीक वैसे ही, जैसे तर्क और पाण्डित्य से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। विशेषतः, हिन्दुत्व का मूलाधार विद्या और ज्ञान नहीं, सीधी अनुभूति है। हमारा धर्म पण्डितों की नहीं, सन्तों और द्रष्टाओं की रचना है। हम फिलासफी को और कुछ नहीं कहकर

'दर्शन' कहते हैं, क्योंकि हमारे दार्शनिक-सत्य सोचे या समझे नहीं गये थे, प्रत्युत, ऋषियों ने आत्मा के चक्षु से, उनका दर्शन किया था। वाद-विवाद, तर्क और पाण्डित्य अथवा बड़े-बड़े सिद्धान्तों और संगठनों से धर्म की सिद्धि नहीं होती। धर्म अनुभूति की वस्तु है और धर्मात्मा भारतवासी उसी को मानते आये, जिसने धर्म के महासत्यों को केवल जाना ही नहीं, अनुभव और साक्षात्कार भी किया हो।

रामकृष्ण के आगमन से धर्म की यही अनुभूति प्रत्यक्ष हुई। उन्होंने अपने जीवन से यह बता दिया कि धार्मिक सत्य केवल बौद्धिक अनुमान की वस्तु नहीं है, वह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है और उनके सामने संसार की सारी तृष्णाएँ, सारे सुख-भोग तृणवत् नगण्य हैं।

यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उन्नीसवीं सदी का हिन्दू-जागरण केवल ईसाइयत से हिन्दुत्व की रक्षा के प्रश्न तक सीमित नहीं था, प्रत्युत, भारत के शिक्षित नास्तिकों के प्रसंग में उसका यह भी उद्देश्य था कि धर्म पर से शिक्षितों की हिलती हुई श्रद्धा फिर से स्थिर बनायी जाय। धर्म और ईश्वर के अस्तित्व को लेकर आज भी बड़े-बड़े विवाद चलते हैं। किन्तु, इन विवादों से उभय पक्ष में एक को भी शान्ति नहीं मिलती। ईश्वरवादी चाहे जितने भी तर्कों का सहारा ले, किन्तु, ईश्वर-सिद्धि के लिए उसके सारे तर्क नगण्य सिद्ध होते हैं और निरीश्वरवादी पण्डित भी चाहे जितने तर्क निकालकर यह सिद्ध करें कि ईश्वर नहीं है, अतएव धर्म की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए; किन्तु, उसके अन्तर्मन में एक विरल शंका बनी ही रह जाती है कि क्या यह सारी सृष्टि आकस्मिक घटना के सिवा और कुछ नहीं है? पश्चिम के एक अभिनव विचारक (O B Frothingham) ने ठीक ही कहा है कि "ईश्वर की परिभाषाएँ लुप्त होती जा रही हैं; मूर्त्तियाँ डगमगा रही हैं और प्रतीक टूटकर बिखरने जा रहे हैं, किन्तु तो भी मनुष्य का अगोचर अस्तित्व बराबर किसी अतल गहराई में से बाहर आने को बेचैन है।" एक अन्य चिन्तक (J H Holmes) ने भी कहा है – "तीन कारणों से मैं नास्तिक नहीं हूँ। पहला कारण यह कि जीवन के प्रति नास्तिकता का सिद्धान्त अनुर्वर और रूढ़िग्रस्त होता है। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रति नास्तिकों का दृष्टिकोण पूर्ण रूप से नकारात्मक होता है। और तीसरा कारण यह है कि नास्तिकता किसी भी मर्म का उद्‌घाटन नहीं कर सकती। किन्तु सृष्टि का तकाजा है कि इसके रहस्यों का उद्‌घाटन किया जाय।"

सृष्टि के रहस्य बुद्धि से उद्‌घाटित नहीं होते। इसके लिए एक विचित्र प्रकार की शक्ति अपेक्षित होती है जो पण्डित नहीं, सन्त के साथ आती है। सहजानुभूति ज्ञान

से अधिक शक्तिशाली वस्तु है। विज्ञान की छड़ी ने सृष्टि के रन्ध्र-रन्ध्र में प्रवेश करके मनुष्य को यह बता दिया है कि अब कहीं भी कोई तत्त्व अविश्लिष्ट नहीं है। फिर भी, एमर्सन की यह अनुभूति जब कानों में पड़ती है कि "प्रकृति का पर्दा अत्यन्त झीना और महीन है। सर्वत्र विद्यमान प्रभु की सत्ता इस पर्दे के तार-तार से झाँक रही है। ऐ मेरे भाइयो ! ईश्वर का अस्तित्व है। प्रकृति के केन्द्र में एक आत्मा बसती है; मनुष्य की इच्छा के ऊपर एक देवता का वास है। आत्मा के प्रत्येक कार्य में ईश्वर और मनुष्य का मिलन हो रहा है" – तब भावुक मनुष्य अगोचर के इस आभास से चौंके बिना नहीं रहता।

पन्थ नहीं, अनुभूति

जब आस्तिक और नास्तिक हिन्दू, ईसाई और मुसलमान आपस में इस प्रश्न पर लड़ रहे थे कि किसका धर्म ठीक है और किसका नहीं, तब परमहंस रामकृष्ण ने सभी धर्मों के मूल तत्त्व को अपने जीवन में साकार करके, मानो सारे विश्व को यह सन्देश दिया कि धर्म को शास्त्रार्थ का विषय मत बनाओ। हो सके तो उसकी सीधी अनुभूति के लिए प्रयास करो। सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जानेवाले अनेक मार्ग हैं। और परमहंस का जो उपदेश था, उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा। उन्होंने हिन्दुत्व के सभी मार्गों की साधना की। यही नहीं, वे कुछ दिन सच्चे मुसलमान बनकर इस्लाम की भी साधना करते रहे और कुछ काल तक उन्होंने ईसाइयत का भी अभ्यास किया था। भारतवर्ष की धार्मिक समस्या का जो समाधान रामकृष्ण ने दिया है, उससे बड़ा और अधिक उपयोगी समाधान और कोई हो नहीं सकता। क्रम-क्रम से, वैष्णव, शैव, शाक्त, तान्त्रिक, अद्वैतवादी, मुसलमान और ईसाई बनकर परमहंस रामकृष्ण ने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्मों के बाहरी रूप तो केवल बाहरी रूप हैं। उनसे मूल तत्त्व में कोई फर्क नहीं पड़ता है। साधन और मार्ग अनेक हैं। उनमें से मनुष्य किसी को भी चुन सकता है। शान्ति मार्ग से नहीं, अनुभूति से मिलती है। जब तक तुम अनुभूति की ऊँचाई पर हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान।

धर्म की साकार प्रतिमा

परमहंस रामकृष्ण उस ऊँचाई के मनुष्य थे, जहाँ से सभी धर्म, सत्य और सब-के-सब समान दीखते हैं; जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुँचती; जहाँ धर्म अपनी राजनैतिक एवं सामाजिक गन्ध को छोड़कर केवल धर्म के रूप में अवस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहे।

आजीवन वे उस मस्ती में डूबे रहे, जिसके दो-एक छीटों से ही जन्म-जन्म की तृषा शान्त हो जाती है। आनन्द उनका धर्म, अतीन्द्रिय रूप का दर्शन उनकी पूजा और विरह उनका जीवन था। उनका चरित ऐसे महापुरुष का चरित्र है जो जीवन के अन्तिम सत्य अर्थात् अतीन्द्रिय वास्तविकता के उत्स के आमने-सामने खड़ा होता है। उनके समकालीन अन्य सुधारक और सन्त पृथ्वी के वासी थे और पृथ्वी से ही वे ऊपर की ओर उठे थे। किन्तु, रामकृष्ण दैवी अवतार की भाँति आये। पृथ्वी पर वे भटकती हुई स्वर्ग की किरण के समान आये। दृश्य की ओर से चलकर दयानन्द, केशवचन्द्र और थियोसोफ़िस्ट लोगों ने जिस सत्य की ओर संकेत किया, अदृश्य की ओर से आकर परमहंस रामकृष्ण ने उस सत्य को अपने ही जीवन में साकार कर दिया। भारतीय जनता की पाँच हजार वर्ष पुरानी धर्म-साधना-रूपी लता पर रामकृष्ण सबसे नवीन पुष्प बनकर चमके और उन्हें देखकर भारतीय जनता को फिर से यह विश्वास हो गया कि भारत में धर्म की अनुभूति जगानेवाले जिन अनन्त ऋषियों और सन्तों की कथाएँ सुनी जाती हैं, वे झूठी नहीं हैं।

रामकृष्ण में आकर ही वे देवी-देवता, पौराणिक आचार और अनुष्ठान धर्म की विविध साधनाएँ एवं जनता के अनेक धार्मिक विश्वास भी सत्य हुए, जिनकी ओर से बोलने का साहस किसी भी सुधारक को नहीं हुआ था। अन्य सभी सुधारक नवीन भारत के प्रतिनिधि थे, यद्यपि, सत्य उन्होंने प्राचीन भारत का ही अपनाया था। किन्तु, रामकृष्ण के रूप में भारत की सनातन परम्परा ही देह धरकर खड़ी हो गयी।

रामकृष्ण न तो अँगरेजी जानते थे, न वे संस्कृत के ही जानकार थे, न वे सभाओं में भाषण देते थे, न अखबारों में वक्तव्य। उनकी सारी पूँजी उनकी सरलता और उनका सारा धन महाकाली का नाम-स्मरण-मात्र था। दक्षिणेश्वर की कुटी में एक चौकी पर बैठे-बैठे वे उस धर्म का आख्यान करते थे, जिसका आदि छोर अतीत की गहराइयों में डूबा हुआ है और जिसका अन्तिम छोर भविष्य के गह्वर की ओर फैल रहा है। घर बैठे उन्हें गुरु-पर-गुरु मिलते गये। अद्वैत साधना की दीक्षा उन्होंने महात्मा तोतापुरी से ली, जो स्वयं उनकी कुटी में आ गये थे। तंत्र-साधना उन्होंने एक भैरवी से पायी, जो स्वयं घूमते-फिरते दक्षिणेश्वर तक आ पहुँची थी। इसी प्रकार, इस्लामी साधना के उनके गुरु कोई गोविन्द राय थे, जो हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और ईसाइयत की साधना उन्होंने शम्भुचरण मल्लिक के साथ की थी, जो ईसाई धर्म-ग्रन्थों के अच्छे जानकार थे। किन्तु, सभी साधनाओं में रमकर धर्म के गूढ़ रहस्यों की छानबीन करते हुए भी, काली की चरणों में उनका विश्वास अचल

रहा। जैसे अबोध बालक स्वयं अपनी चिन्ता नहीं करता, उसी प्रकार, रामकृष्ण अपनी कोई फिक्र नहीं करते थे। जैसे बालक प्रत्येक वस्तु की याचना अपनी माँ से करता है, वैसे ही रामकृष्ण भी हर चीज काली से माँगते थे और हर काम उनकी आज्ञा से करते थे। यह नवयुग के मनुष्यों के सामने पोंगापंथी कहानी-सी लगती है। किन्तु, यह लिखित इतिहास की घटना है। स्वयं तोतापुरी जब दक्षिणेश्वर आये, तब रामकृष्ण में कुछ अलभ्य लक्षण देखकर उन्होंने सहसा कहा था, "क्या तू अद्वैत की साधना करेगा ?" रामकृष्ण बोले, "मैं कुछ नहीं जानता। माता से पूछकर अभी आता हूँ। यदि उन्होंने आज्ञा दी तो अवश्य करूँगा।" तोतापुरी ने समझा, इसकी, सचमुच की, कोई माँ होगी। किन्तु, रामकृष्ण जब मन्दिर में जाकर लौट आये और कहा कि माता की आज्ञा है, तो तोतापुरी को महान आश्चर्य हुआ कि कोरी प्रतिमा में इसकी ऐसी अटल आस्था है !

हिन्दू धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, परमहंस रामकृष्ण उसकी प्रतिमा थे। उनकी इन्द्रियाँ पूर्णरूप से उनके वश में थी। रक्त और मांस के तकाजों का उन पर कोई असर न था। सिर से पाँव तक वे आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनन्द, पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी। वे दिन-रात परमार्थ-चिन्तन में निरत रहते थे। सांसारिक सुख-समृद्धि, यहाँ तक कि सुयश का भी उनके सामने कोई मूल्य नहीं था।

कंचन से विरक्ति

साधना करते-करते शरीर को उन्होंने इतना शुद्ध कर लिया था कि वह ईश्वरत्व का निर्मल यंत्र हो गया था और सांसारिकता के स्पर्श-मात्र से उसमें विचित्र प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होने लगती थीं। रुपये, पैसे, सोने-चाँदी आदि का स्पर्श वे सह नहीं सकते थे और यह कोई बहानेबाजी या ढोंग नहीं था। विवेकानन्द होने के पूर्व, नरेन्द्रदत्त बड़े ही शंकालु व्यक्ति थे। उन्हें रामकृष्ण अपनी ओर खींच रहे थे और वे बार-बार उनसे भागना चाहते थे। रामकृष्ण रुपये-पैसे को नहीं छूते और द्रव्य के स्पर्श मात्र से उन्हें पीड़ा होने लगती हैं, इस बात की जाँच करने के लिए उन्होंने एक दिन, चोरी-चोरी, परमहंसजी के बिस्तर के नीचे एक रुपया छिपा दिया। रामकृष्ण लौटकर जो बिस्तर पर बैठे तो उन्हें ऐसा लगा, मानो बिच्छू ने डंक मार दिया हो और वे उचक कर खड़े हो गये। लोगों ने चारों ओर देखा, मगर, कहीं भी कोई चीज नहीं थी। निदान, उन्होंने बिस्तर हटाकर नीचे देखा, तो क्या देखते हैं कि उसके नीचे एक रुपया पड़ा है। सब लोग अकचकाये हुए थे। केवल नरेन्द्र

अचरज के मारे गम्भीर थे। रामकृष्ण उनकी शैतानी को लख गये और बोले, "ठीक है रे; गुरु की जाँच जी भर कर लेनी चाहिये।"

द्रव्य के प्रति यह वितृष्णा उनमें बढ़ती ही गयी। अन्त समय तो ऐसा हो गया कि हाथ में कपड़ा लपेटे बिना वे काँसे के बरतन को भी नहीं छू सकते थे। निदान, उनका खान-पान मिट्टी के ही बरतनों में चलने लगा था।

कामिनी के प्रति अनासक्ति

रामकृष्ण एक ऐसे संन्यासी हुए हैं, जो अन्त समय तक अपनी धर्मपत्नी के साथ रहे। गृहत्याग उन्होंने विवाह के बाद किया था और सच पूछिये तो, विधिवत् उन्होंने गृहत्याग किया भी नहीं था, क्योंकि सिद्धावस्था आने पर भी, वे अपने गाँव गये और वहाँ अपने परिवार के साथ वैसे ही घुल-मिल कर रहे, जैसे गृहस्थ को रहना चाहिये। इसी यात्रा के बाद उनकी पत्नी दक्षिणेश्वर में उनसे आन मिली एवं परमहंसजी ने उन्हें अपने साथ रखने में तनिक भी आनाकानी नहीं की। उनकी माता वहीं दक्षिणेश्वर-परिसर के नौबतखाने में रहती थी। उन्हीं के पास रामकृष्ण ने अपनी पत्नी को भी रख दिया। किन्तु, पत्नी के साथ उनका शारीरिक सम्बन्ध नहीं हुआ, यह सभी विवरणों से विदित होता है। 'श्रीरामकृष्ण-लीलामृत' नामक जो रामकृष्ण का जीवन-चरित है, उससे अच्छा जीवन-चरित मैंने और नहीं देखा। वह हर रोज की लिखी डायरी पर आधारित जीवनी है एवं उसका प्रत्येक विवरण सत्य मालूम होता है। उसमें लिखा है, "एक दिन उनके पैर दबाते-दबाते माताजी (रामकृष्ण की पत्नी) ने उनसे एकाएक पूछा, 'मुझको आप कौन समझते हैं ?' श्रीरामकृष्ण बोले, "जो माता उस काली-मन्दिर में है, वही इस शरीर को जन्म देकर अभी नौबतखाने में निवास करती है और वही यहाँ इस समय मेरे पैर दबा रही है। तू मुझे, सचमुच ही, सदा साक्षात् आनन्दमयी के रूप में दिखायी देती है।"

ऐसा लगता है कि रामकृष्ण प्रकृति के प्यारे पुत्र थे और प्रकृति उनके द्वारा यह सिद्ध करना चाहती थी कि जो मानव-शरीर भोग का साधन बन जाता है, वही, चाहे तो, त्याग का भी पावन यन्त्र बन सकता है। द्रव्य का त्याग उन्होंने अभ्यास से सीखा था, किन्तु, अभ्यास के क्रम में उन्हें द्वन्द्वों का सामना करना नहीं पड़ा। हृदय के अत्यन्त निश्छल और निर्मल रहने के कारण वे पुण्य की ओर संकल्प-मात्र से बढ़ते चले गये। काम का त्याग भी उन्हें सहज ही प्राप्त हो गया। लिखा है कि "एक दिन अपनी पत्नी को अपने समीप ही सोती हुई देखकर अपने मन को सम्बोधन करते हुए श्रीरामकृष्ण विचार करने लगे, 'अरे मन, इसी को स्त्री-शरीर कहते हैं। सारा

संसार इसी को परम भोग्य वस्तु मानकर उसकी प्राप्ति के लिए सदा लालायित रहकर अनेक प्रयत्न करता है, परन्तु, इसके ग्रहण करने से, देहासक्ति में सदा के लिए फँस जाने से सच्चिदानन्द ईश्वर को प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। हे मन, सच-सच बोल, भीतर एक और बाहर दूसरा, ऐसा मत रख। तुझे यह शरीर चाहिये कि ईश्वर चाहिये ? यह शरीर चाहिये तो यह देख, वह यहाँ तेरे पास ही पड़ा है, इसे ग्रहण कर।" ऐसा विचार करके रामकृष्ण ज्योंही अपनी पत्नी के शरीर का स्पर्श करनेवाले थे कि उनका मन कुण्ठित होकर उन्हें गहरी समाधि लग गयी और रात भर उन्हें देह की सुधि न रही।" अन्यत्र अपनी पत्नी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा, "वही (पत्नी) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती, तो हमारे संयम का बाँध टूटकर मन में देहबुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, यह कौन कह सकता है?"

नानक और कबीर, ये भी विवाहित थे और पत्नी के साथ रहकर ही उन्होंने धर्म की सिद्धि की थी। इनमें से काम पर किस की क्या प्रतिक्रिया रही, इसका लेखा-जोखा उपलब्ध नहीं है। हाँ, कबीर का एक दोहा चलता है –

नारी तो हमहुँ करी, तब ना किया विचार,
जब जानी तब परिहरी, नारी महाविकार ।

किन्तु, रामकृष्ण ने नारी की ऐसी निन्दा कभी नहीं की। अपनी पत्नी की तो उन्होंने प्रशंसा ही की है। हाँ, काम-भोग को साधना की बाधा वे भी मानते थे और उनका भी उपदेश यही था कि नर-नारी एक दूसरे से अलग रहकर ही अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। अपना उदाहरण देते हुए उन्होंने एक बार कहा था, "उन दिनों तो मुझे स्त्रियों से डर लगता था। ...अब वह अवस्था नहीं रही। अब मैंने मन को बहुत कुछ सिखा-पढ़ा कर इतना कर लिया है कि स्त्रियों की ओर आनन्दमयी माता के भिन्न-भिन्न रूप जानकर देखा करता हूँ। तो भी, यद्यपि, स्त्रियाँ जगदम्बा की ही अंश हैं, तथापि साधक-साधु के लिए वे त्याज्य ही हैं।"

कामिनी और कांचन के विषय में किसकी क्या दृष्टि है तथा इनके आकर्षण से कौन कहाँ तक बचता है, यही वह कसौटी है, जिस पर भारतीय महापुरुषों की जाँच होती आयी है। रामकृष्ण इस कसौटी पर खरे उतरे। उन्होंने पत्नी को अपने साथ रहने दिया, उन्हें अपनी साधना के पथ पर आगे बढ़ाया। इससे यह भी प्रकट होता है कि नारियों के प्रति उनके मन में कोई घृणा या द्वेष नहीं था।

तर्क बनाम अनुभूति

रामकृष्ण के अद्‌भुत गुणों से आकृष्ट होकर तत्कालीन बड़े-बड़े तार्किक और विद्वान उन्हें घेरे रहते थे। इनमें से ऐसे नवयुवक भी थे जो नास्तिक थे, जो शंकालु थे, जो साधु-सन्तों के चमत्कारों को ढोंग समझते थे। किन्तु रामकृष्ण के सामने शंकाओं के उठने या टिकने का सवाल ही नहीं था। न तो वे चमत्कार दिखाकर लोगों को प्रभावित करते थे, न किसी से आस्तिकता-नास्तिकता को लेकर विवाद। उनका जीवन उन्मुक्त ग्रन्थ था और धर्म के लक्षण वे मुख से नहीं कहकर, अपने आचरणों से बताते थे। फिर आँखों-देखी बात पर शंका क्यों हाती ?

वे, प्रायः, अपढ़ मनुष्य थे, किन्तु, साधना के बल से वे उस मूल उत्स पर पहुँच गये थे, जहाँ से सभी ज्ञान उठकर ऊपर आते हैं, जहाँ से दर्शनों की उत्पत्ति और धर्मों का जन्म होता है। इसीलिए, उनके उपदेश विद्वान और अविद्वान, सभी के लिए ग्राह्म है। वे सबकी समझ में आते हैं एवं जिसमें उड़ने की जितनी शक्ति है, वह उन्हें लेकर उतनी दूर तक उड़ सकता है। उनके वचनामृत की धारा जब फूट पड़ती थी, तब बड़े-से-बड़े तार्किक अपने-आप में खोकर मूक हो जाते थे। केशवचन्द्र सेन से एक बार रामकृष्ण ने कहा, "केशव ! तू अपनी वक्तृता के द्वारा सभी को हिला देता है। मुझे भी तो कुछ बता।" केशवचन्द्र इस पर नम्रता से बोले, "मैं क्या लोहार की दुकान में सुई बेचने आऊँ ? आप ही कहते जाइये। मैं सुनता हूँ। आपके ही श्रीमुख की दो-बार बातें मैं लोगों को बताता हूँ, जिन्हें सुनकर वे गद्‌गद हो जाते हैं। बस, यही मैं करता हूँ।"

सन्त-पद्धति से उपदेश

उनकी विषय-प्रतिपादन की शैली ठीक वही थी, जिसका आश्रय भारत के प्राचीन ऋषियों तथा पार्श्वनाथ, बुद्ध और महावीर ने लिया था तथा जो परम्परा से भारतीय सन्तों के उपदेश की पद्धति रही है। वे तर्कों का सहारा कम लेते थे, जो कुछ समझाना होता, उसे उपमाओं और दृष्टान्तों से समझाते थे। सन्त सुनी-समझी बातों का आख्यान नहीं करते, वे तो आँखों-देखी बातें कहते हैं, अपनी अनुभूतियों का निचोड़ दूसरों के हृदय में उतारते हैं।

देह और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ हैं, इन सिद्धान्त को समझाते हुए उन्होंने कहा, "कामिनी-कांचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय, तो देह अलग है और आत्मा अलग है, यह स्पष्ट रूप से दीखने लगता है। नारियल का पानी सूख जाने

पर जैसे उसके भीतर का खोपरा (गरी) नरेटी से खुलकर अलग हो जाता है, खोपरा और नरेटी दोनों अलग-अलग दीखने लगते हैं (वैसे), या जैसे म्यान के भीतर रखी हुई तलवार के विषय में कह सकते हैं कि म्यान और तलवार दोनों भिन्न चीजें हैं, वैसे ही देह और आत्मा के बारे में जानो।''

प्रतिमा-पूजन का भी ईश्वराराधन में वास्तविक महत्त्व है, इस विचार को समझाने के लिए वे कहते, ''जैसे वकील को देखते ही अदालत की याद आती है, उसी तरह, प्रतिमा पर से ईश्वर की याद आती है।''

''माया ईश्वर की शक्ति है, वह ईश्वर में ही वास करती है, तब क्या ईश्वर भी हमारे समान ही मायाबद्ध है ?'' इस गुत्थी को सुलझाने के लिए वे कहते, ''अरे, नहीं रे भाई! वैसा नहीं है। ...यही देखो न। सर्प के मुँह में सदा विष रहता है। उसी मुँह से वह हरदम खाता-पीता है, पर, वह स्वयं उस विष से नहीं मरता।''

मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है, इस शिक्षा को समझाने का उनका ढंग यह था कि मनुष्य, मानो, केवल तकिये के गिलाफ हैं। गिलाफ जैसे भिन्न-भिन्न रंग और आकार के होते हैं, वैसे ही, मनुष्य भी कोई सुरूप, कोई कुरूप, कोई साधु, कोई दुष्ट होता है। इतना ही अन्तर है। पर, जैसे सभी गिलाफ में एक ही पदार्थ – कपास भरा रहता है, वैसे ही, सभी मनुष्यों में वही एक सच्चिदानन्द भरा हुआ है।''

ईश्वराराधन का व्यावहारिक मार्ग बताते हुए वे कहते, ''जब तुम काम करते हो, तो एक हाथ से काम करो और दूसरे हाथ से भगवान के पाँव पकड़े रहो। जब काम समाप्त हो जाय, तो भगवान के चरणों को दोनों हाथों से पकड़ लो।''

संकल्प-शुद्धि के लिए उनका उपदेश था, ''अभागा मनुष्य ही यह मानता है कि मैं पापी हूँ। ऐसा सोचते-सोचते वह पापी हो भी जाता है।''

तर्कों से वे बहुत घबराते थे। कहते, ''शास्त्रार्थ को मैं नापसन्द करता हूँ। ईश्वर शास्त्रार्थ की शक्ति से परे हैं। मुझे तो प्रत्यक्ष दीखता है कि जो कुछ है, वह ईश्वरमय है। फिर तर्कों से क्या फायदा? बगीचे में तुम आम खाने जाते हो, न कि पत्ते गिनने। फिर मूर्तिपूजा, पुनर्जन्म और अवतारवाद को लेकर यह विवाद क्यों चलता है?''

बुद्धि का तो अविश्वास वे करते ही थे, सहज ज्ञान को भी वे स्थायी महत्व नहीं देते थे। सहज ज्ञान के द्वारा बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण किया जाता है। किन्तु बुद्धि के परे की अनुभूतिवाली भूमि में सहज ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। तब तो ईश्वरीय कृपा का ही एक मात्र प्रकाश बच जाता है। इसलिए, वे कहा करते

थे कि पाँव में एक काँटा गड़ जाय, तो उसे दूसरे काँटे से निकालना होता है। किन्तु, काँटे के निकल जाने पर तो दोनों काँटों को फेंक ही देना चाहिये।

परिपक्व मनुष्य जाति-भेद को नहीं मानता, यह समझाने को रामकृष्ण कहा करते थे कि ताड़ और खजूर को देखो न! आरम्भ में वे कितने पत्ते लिये रहते हैं। किन्तु उनके खूब बढ़ जाने पर क्या होता है? व्यर्थ के सारे बोझ झड़ जाते हैं और कुछ थोड़े-से पत्ते ही शेष रह जाते हैं।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की प्रशंसा करते हुए वे बोले, "पक्का विद्वान् कभी भी अहंकार नहीं दिखाता। आलू सिद्ध होने पर नर्म हो जाता है।"

विद्वत्ता और पाण्डित्य के साथ वे मनुष्य में शील और सदाचार भी चाहते थे। अनुशासन और नैतिकता से विहीन विद्वानों के लिए उनमें आदर का भाव नहीं था। उनका कहना था कि विद्या की बड़ी शक्ति है। लेकिन, केवल विद्या से क्या होगा? गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ता तो है, मगर, आँख उसकी बराबर मुर्दे पर लगी रहती है। बहिर्मुखी विद्वान समुद्र के समान होता है। परन्तु, वरुणदेव को पता नहीं कि उनके भीतर कितनी चीजें छिपी हुई हैं। बहुत-से अमीर अपने सभी नौकरों के नाम भी नहीं जानते, न उन्हें यही पता है कि कौन चीजें कहाँ रखी हैं!

संसार में रहते हुए परमार्थ की साधना कैसे करें, इस विषय में उपदेश देते हुए वे कहते हैं, कटहल छूने के पहले उँगली में तेल लगा लिया करो। मन दूध है और दुनिया पानी। दूध को पहले जमा लो, फिर उसका मन्थन करो। तब जो मक्खन निकलेगा, वह पानी में नहीं घुलेगा।

धन मनुष्य के जीवन का ध्येय नहीं होना चाहिये, इस उपदेश को वे यों रखते थे कि धन से क्या मिलता है? भोजन, वस्त्र और मकान। मगर, इनसे ऊँची चीजें धन से नहीं मिल सकती। इसलिए, जीवन का उद्देश्य धन नहीं हो सकता।

विनोदप्रियता

विनोदप्रियता रामकृष्ण में कूट-कूट कर भरी थी और उनसे विनोद मार्मिक होते हुए भी बड़े ही आनन्ददायी होते थे। एक बार केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज की व्यासगद्दी से प्रार्थना कर रहे थे। प्रार्थना करते-करते उन्होंने एक वाक्य कहा कि हे प्रभो! हमें अपने आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न कर लो। प्रार्थना के बाद, किसी दूसरे प्रसंग में, रामकृष्ण ने कहा, "अरे केशव! आनन्द-समुद्र में सदा के लिए मग्न होने की प्रार्थना बेकार है। तुम्हारे आंगन में तो साड़ियाँ सूखती हैं। तुम्हारे

लिए यही उचित है कि समुद्र में एक डुबकी लगाकर फिर बाहर आ जाओ। नहीं तो इन साड़ियों का क्या होगा ?"

नरेन्द्रनाथ (विवेकानन्द) दिन में दो बार प्रार्थना करते थे। एक दिन एक पद गाते-गाते बोले,"भजन-साधन तार करो रे निरन्तर।" रामकृष्ण एकदम बोल उठे, "छिः, ऐसा मत कह। उसके बदले 'भजन-साधन तार करो रे दिने दुबारे' ऐसा कह ! अपने को जो कभी करना ही नहीं, उसे जोर-जोर से कहने से क्या मतलब ?"

केशवचन्द्र सेन से वें, अक्सर, मजाक करते थे। कभी कहते, "तेरी पूँछ झड़ गयी है। जब तक पूँछ नहीं झड़ जाती, तब तक मेंढक पानी से बाहर नहीं निकलता। पर जब पूँछ झड़ जाती है, तब वह पानी में भी रह सकता है और पानी से बाहर भी।" कभी कहते "केशव, तुम वह पक्षी हो, जिसकी दुम में पत्थर बँधा है। यह पक्षी समाधि में जा सकता है, मगर, बाल-बच्चे उसे नीचे खींच लेते हैं।"

ब्राह्मसमाज बँटकर दो पक्षों में विभक्त हो गया था, किन्तु, उसके दोनों पक्षों के लोग रामकृष्ण के यहाँ आते-जाते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि केशवचन्द्र अपने कुछ अनुयायियों के साथ रामकृष्ण के पास बैठे हुए थे कि विजयकृष्ण भी अपने अनुगामियों के साथ आ पहुँचे। ऐसी अचानक भेंट हो जाने से दोनों पक्षवालों को संकोच-सा होने लगा। यह बात रामकृष्ण की दृष्टि में आते ही वे बोले – "सुनो! एक बार ऐसा हुआ कि भगवान शंकर और श्रीरामचन्द्र में कुछ विवाद हो गया और दोनों में युद्ध होने लगा। अब शंकर के गुरु राम और राम के गुरु शंकर होने के कारण, युद्ध समाप्त होने पर, उन दोनों में पूर्ववत् मैत्री होने में देरी नहीं लगी। पर, शंकर की सेना के भूत-प्रेतों और राम की सेना के वानर-रीछों की मैत्री नहीं हुई। इसीलिए कहता हूँ कि जो होना था, सो हो गया। अब, कम-से-कम, तुम दोनों के मन में तो एक-दूसरे के प्रति परस्पर बैर-भावना या वैमनस्य नहीं रहे। और यह भाव यदि रहे, तो रहने दो अपने वानर-रीछों और भूत-प्रेतों में।"

ऐसा था वह मनुष्य, जिसने भाषण और वक्तव्य दिये बिना तथा सभा-सम्मेलनों में शास्त्रार्थ किये बिना, केवल अपने आचरणों और अपनी अनुभूतियों से यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दुत्व का, केवल वेद-उपनिषद् वाला ही नहीं, बल्कि, वह रूप भी सत्य है, जिसका आख्यान पुराणों एवं सन्तों की जीवनियों में मिलता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि रामकृष्ण के भीतर से हिन्दुत्व ने अपनी रक्षा अन्य धर्मों को पछाड़ कर नहीं, प्रत्युत, उन्हें अपना बना कर की। हिन्दुत्व, इस्लाम और

ईसाइयत पर रामकृष्ण की श्रद्धा एक समान थी। क्योंकि, बारी-बारी से सब की साधना करके उन्होंने एक ही सत्य का साक्षात्कार किया था।

मनीषियों द्वारा अभिनन्दन

रामकृष्ण का नाम उनके जीवन-काल में भी दूर-दूर तक पहुँचा था। किन्तु, उनके देहान्त के बाद तो उनके उपदेशों को स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार फैलाया कि संसार के कोने-कोने में उनका नाम गूँज गया। उनकी जीवनी मैक्समूलर ने लिखी थी। फिर उनका एक चरित रोमाँ रोलाँ ने भी प्रकाशित किया। गाँधीजी का वचन है कि रामकृष्ण की जीवनी व्यवहार में आये हुए जीवित धर्म की कहानी है। कहते हैं कि केशवचन्द्र सेन के समय, ब्राह्मसमाज में भक्ति और साधना का जो प्रचलन हुआ, वह ब्राह्मसमाजियों की रामकृष्ण से संगति का परिणाम था। प्रसिद्ध ब्राह्मसमाजी साधक और विद्वान् आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार ने लिखा है, "श्रीरामकृष्ण के दर्शन होने के पूर्व, धर्म किसे कहते हैं, यह कोई समझता भी नहीं था। सब आडम्बर ही था। धार्मिक जीवन कैसा होता है, यह बात रामकृष्ण की संगति का लाभ होने पर जान पड़ी।"

आचार्य प्रतापचन्द्र मजुमदार की एक और उक्ति है, जिसके उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धिवादी विद्वानों पर रामकृष्ण के व्यक्तित्व का कैसा प्रभाव था। प्रतापचन्द्र लिखते हैं कि "उनके और मेरे बीच समानता ही क्या है ? मैं यूरोपीयकृत, सुसभ्य, अर्धनास्तिक और तथाकथित सुशिक्षित, तार्किक व्यक्ति हूँ, जिसकी सारी चिन्ता अपने ही निमित्त है। और वे निर्धन, अशिक्षित, व्यवहार में भद्दे, मूर्त्तिपूजक एवं निस्सहाय हिन्दू भक्त है। भला मैं उनकी सेवा में घंटों क्यों बैठा करूँ – मैं, जिसने डिजरेली और फाकेट के विचार सुने हैं; जिसने स्टानले और मैक्समूलर की विद्याएँ प्राप्त की हैं, जिसने यूरोप के बीसियों विद्वानों और धर्मपुरुषों के विचारों का पान किया है ? किन्तु, केवल मैं ही नहीं, यहाँ तो मेरे-जैसे दर्जनों लोग हैं, जो यही करते हैं। ...वे (रामकृष्ण) राम की पूजा करते हैं, शिव की पूजा करते हैं, काली को पूजते हैं और, साथ ही, वेदान्त में भी उनका अडिग विश्वास है। वे प्रतिमापूजक हैं, किन्तु निरंजन और निराकार की पूर्णता का ज्ञान कराने में भी उनसे बढ़कर कोई और माध्यम नहीं हो सकता। उनका धर्म आनन्द है, उनकी पूजा समाधि है। अहर्निश उनका समस्त अस्तित्व एक विचित्र विश्वास और भावना की ज्वाला में प्रदीप्त रहता है।"[२] ☐

---

२ स्वामी निर्वेदानन्द लिखित 'रामकृष्ण एण्ड स्पिरिचुअल रिनासाँ' में उद्धृत।

लो विवेक शतकोटि प्रणाम

डॉ. बंशीधर दास

मुक्त वायु सम व्यापक हो तुम, अतल जलधि सम गहन गभीर।
भावों के उत्तुंग हिमालय, अग्नि सदृश तेजस्वी वीर ॥

समता में हो बुद्ध सदृश तुम, कृष्णरूप कर्मी निष्काम ।
प्रज्ञा के शंकराचार्य हो, मर्यादा-पालक ज्यों राम ॥

अन्धकारमय जग-जीवन के, ज्योतिदूत हे, तुम्हें प्रणाम ।
पराधीन इस भारतभू के, उद्धारक हे प्रज्ञाधाम ॥

तुम-सा कौन हुआ है जग में, जन-गण के आदर्श ललाम ।
हे महान, सच्चित्सुख-प्रेरक, लो मेरे शतकोटि प्रणाम ॥

सत्पथ पर परिचालक, जग के मार्गप्रदर्शक तुम्हें प्रणाम ।
मानव-मानव भेद-भाव के, पूर्ण विनाशक तुम्हें प्रणाम ॥

ब्रह्मभाव की अलख जगानेवाले, तुमको कोटि प्रणाम ।
'धर्म' शब्द के नव-परिभाषक, लो मेरे शतकोटि प्रणाम ॥

माँ के सान्निध्य में (३९)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं। – सं.)

२२ जुलाई १९१८

रात के साढ़े सात बजे थे, मैं माँ के श्रीचरण दर्शन करने गयी थी। प्रणाम करते ही वे बोलीं, "आओ बेटी, बैठो। बड़ी गर्मी है, बैठकर थोड़ी ठण्डी हो लो। सुमति आदि क्या घर पहुँच गये ?"

मैं – हाँ माँ, उनके पहुँचने के बाद ही मैं निकली हूँ।

माँ – राधू को यह पंखा दे आओ और यह मरिचादि तेल लेकर जरा पीठ में मालिश कर दो। देखती हो न बेटी, हाथ पेट – सब घमौरी से भर गया है, कोई भी जगह नहीं बचा।

मेरे मालिश करने बैठते ही आरती का घण्टा बजा। माँ उठकर बैठ गयीं और हाथ जोड़कर ठाकुर को प्रणाम किया। बाकी सभी आरती देखने मन्दिर चली गयीं।

माँ – देखो बेटी, सभी कहते है कि 'यह दुःख है, वह दुःख है – भगवान को मैंने इतना पुकारा, तो भी दुःख दूर नहीं हुए।' परन्तु दुःख ही तो भगवान की दया का दान है।

उस दिन मेरा मन दुःख से बड़ा आक्रान्त था, क्या इसी का आभास पाकर माँ ने ये बातें कहीं ? माँ आगे कहने लगीं, "संसार में दुःख किसे नहीं मिला है, बोलो तो ? वृन्दा ने कृष्ण से कहा था, 'कौन कहता है कि तुम दयामय हो ? राम अवतार में तुमने सीता को रुलाया, कृष्ण अवतार में राधा को रुला रहे हो। और तुम्हारे माता-पिता कंस के कारागार में कष्ट पाते हुए दिन-रात "कृष्ण कृष्ण" करते रहे। तो भी तुम्हें इसलिए पुकारती हूँ कि तुम्हारे नाम से यम का भय नहीं रहता'।"

शचिन तथा देवव्रत महाराज की बात उठी। माँ ने बोलीं, "शचिन बड़ा ही भाग्यवान था। देवव्रत ने जिम रात देहत्याग किया, उस रात तूफान वर्षा आदि चल रही थी, मठ में कोई आदमी भी नहीं था। और शचिन ने सुबह देहत्याग किया उस

समय मठ लोगों से भरा हुआ था।''* देवव्रत महाराज के प्रसंग में वे बोलीं, ''देवव्रत योगी पुरुष था।''

एक महिला का प्रसंग उठा। माँ ने कहा, ''ठाकुर को कहते सुना है कि वैसे लक्षणवाले लोगों को भक्तिलाभ नहीं होता।''

मैंने कहा, ''हाँ माँ, मैंने ठाकुर की पुस्तक में पढ़ा है – कान में तुलसी, कम बोलनेवाला आदि है।''

माँ – ओह, वह बात कह रही हो! नारायण के घर पर वह बात हुई थी। एक व्यक्ति ने एक स्त्री को रखा था। उस महिला ने ठाकुर के पास आकर आक्षेप करते हुए कहा था, 'उसी ने तो मुझे बरबाद किया है। फिर मेरे जो भी गहने, रुपये आदि थे, उसने सब ले लिया।' ठाकुर तो सबके हृदय की सारी बातें जान लेते थे, तो भी पूछा करते थे। उस महिला की बात सुनकर वे बोले, 'ऐसा है क्या? परन्तु मुख पर तो वह खूब भक्ति आदि की बातें करता है।' यही कहकर उन्होंने वह श्लोक कहा था। खैर, वह औरत तो उनके सामने अपने सारे पापों की बात व्यक्त करके छुटकारा पा गयी।

नलिनी – ऐसा कैसे हो सकता है, माँ? पाप की बात एक बार मुख से कह देने मात्र से ही क्या सब धुल सकता है?

माँ – क्यों नहीं धुल सकता है? वे महापुरुष जो हैं, उनके सामने बोलने से भला क्यों नहीं जायगा? और एक बात सुनो, पाप-पुण्य की चर्चा जहाँ होती है, वहाँ उपस्थित सभी लोगों को उसकी भलाई-बुराई का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य ग्रहण करना पड़ता है।

नलिनी – ऐसा क्यों होगा?

माँ ने हम लोगों से कहा, ''सुनो बेटी, कैसे होता है। कल्पना करो कि एक व्यक्ति तुम लोगों के सामने अपने पाप-पुण्य की बात कह गया। मन में कभी भी उस व्यक्ति की बात उठने के साथ-ही-साथ उसके भले-बुरे कार्यों का विचार भी आ जायगा। इस प्रकार वह भला या बुरा दोनों ही तुम लोगों के मन पर थोड़ा थोड़ा काम करता रहेगा। क्यों बेटी, ठीक है न?''

---

१. देवव्रत महाराज ने जब देहत्याग किया, उस समय माँ कोयलपाड़ा गाँव में बड़ी बीमार पड़ी थीं। इसी कारण शरत् महाराज आदि सब वहीं गये हुए थे। और सचिन महाराज के देहावसान के समय सभी लोग तथा माँ भी यहीं उपस्थित थीं।

फिर लोगों के दु:ख-कष्ट तथा अशान्ति की बात उठने पर माँ कहने लगीं, "देखो, लोग मेरे पास आकर कहते हैं — जीवन में बड़ी अशान्ति है, इष्टदर्शन नहीं हुआ; शान्ति कैसे मिलेगी, माँ! आदि आदि न जाने क्या क्या कहते हैं। तब मैं उन लोगों की ओर देखती हूँ, और फिर अपनी ओर देखकर सोचती हूँ — ये लोग ऐसी बातें क्यों कहते हैं! तो क्या मेरा सब अलौकिक है ! मैंने अशान्ति जैसा कभी कुछ अनुभव नहीं किया ! और इष्टदर्शन ! वह तो हाथ की मुट्ठी में है — एक बार बैठते ही देख पाती हूँ।"

माँ के 'डकैत पिता' की बात मैंने पुस्तक में पढ़ रखी थी। उनके अपने मुख से उसे सुनने की इच्छा होने के कारण मैंने आज माँ से पूछा, "माँ, मैंने पुस्तक में पढ़ा है कि एक बार जब आप लक्ष्मी दीदी आदि के साथ दक्षिणेश्वर आ रही थीं, तो संध्या होने तथा उन लोगों के साथ तेज गति से चलने में स्वयं को असमर्थ पाकर, आप उन लोगों को आगे बढ़ने को कहकर स्वयं काफी पीछे रह गयी थीं। उसी समय आपकी अपने उन डकैत माँ-बाप के साथ भेंट हुई थी।"

माँ — मैं बिल्कुल अकेली थी, ऐसी बात नहीं है। मेरे साथ और भी दो वृद्धा महिलाएँ थीं — हम तीनों ही पिछड़ गयी थीं। इसके बाद कानों में चाँदी की बालियाँ पहने, जटाजूट जैसे केशवाले तथा हाथ में लम्बी लाठी लिए काले रंग के उस व्यक्ति को देख मैं बड़ी डर गयी थी। उन दिनों उस मार्ग पर डकैतियाँ पड़ा करती थीं। उस व्यक्ति ने हमें डरा हुआ देखकर पूछा, 'कौन हो जी, तुम लोग कहाँ जाओगी ?' मैं बोली, 'पूर्व की ओर।' उस व्यक्ति ने कहा, 'उसके लिए इस रास्ते से नहीं, उस रास्ते से जाना होगा।' तो भी मुझे आगे न बढ़ते देखकर वह बोला, 'डरने की बात नहीं, मेरे साथ एक महिला है, वह पीछे आ रही है।' तब 'बाबा' कहकर मैंने उसका आश्रय लिया। तब क्या ऐसी ही थी बेटी ? कितनी शक्ति थी ! तीन दिनों का रास्ता पैदल चलकर पार किया है, वृन्दावन की परिक्रमा की है — कोई कष्ट नहीं हुआ।

इसके बाद माँ ने कहा, "दक्षिणेश्वर का नौबतखाना देखा है न ? उसी में रहती थी। प्रारम्भ में कमरे में घुसते समय (चौखट से) सिर टकरा जाता था। एक बार कट भी गया था। परन्तु बाद में अभ्यस्त हो गयी थी। दरवाजे के सामने जाते ही सिर झुक जाता था। कलकत्ते से सब मोटी-सोटी महिलाएँ देखने आतीं और दरवाजे के दोनों तरफ हाथ लगाये खड़ी होकर कहतीं, 'अहा, कैसे कमरे में हमारी सीता-लक्ष्मी निवास करती हैं — मानो वनवास है।' (नलिनी तथा माकू की ओर उन्मुख होकर) तुम लोग होती तो क्या एक दिन भी वहाँ ठहर पाती ?"

वे बोलीं, "नहीं बुआ, तुम्हारा सभी कुछ अलग ही है।"

मैंने कहा, "गुरुदास बर्मन की किताब में पढ़ा है कि बाद में शायद आपके लिए एक झोपड़ी बना दी गयी थी और ठाकुर के एक दिन वहाँ जाने के बाद खूब वर्षा आरम्भ हो जाने के कारण वे अपने कमरे में लौट नहीं सके थे।"

माँ – कहाँ की झोपड़ी, बेटी। ऐसे ही फूस का एक छप्पर था। शरत् की पुस्तक (लीलाप्रसंग) में सब ठीक ठीक लिखा है। मास्टर की किताब (वचनामृत) भी अच्छी है – मानो ठाकुर की बातों को उसमें गूँथ दिया है। उसमें क्या ही मधुर बातें हैं! सुना है कि उसी तरह की और भी चार-पाँच खण्ड किताबें हो सकती हैं – इतना है। परन्तु अब बूढ़ा हो चला है, और कर सकेगा? पुस्तकों की बिक्री से उसे काफी पैसे भी मिले हैं – सुना कि उसने वे पैसे जमा कर रखे हैं। मुझे जयरामबाटी का घर बनाने के लिए लगभग एक हजार रुपये दिये थे (मकान के लिए चार सौ और बाकी खर्चों के लिए पाँच सौ) और हर महीने मुझे दस रुपये देता है। यहाँ रहने पर कभी कभी अधिक – बीस-पचीस रुपये भी देता है। पहले जब स्कूल की नौकरी करता था, तो महीने में दो रुपये दिया करता था।

मैं – गिरीश बाबू ने क्या मठ को बहुत से रुपये दिये हैं?

माँ – उसने और क्या दिया है? दिया था सुरेश मित्र ने। पर हाँ कुछ कुछ दिया है। और मुझे डेढ़ वर्ष तक बेलुड़ में नीलाम्बर के घर पर रखा था। दो-चार हजार मठ में दिये हो, ऐसी बात नहीं। और देगा भी भला कहाँ से? इतने रुपये भी उसके पास थे ही कहाँ? पहले वह दुराचारी था, जैसे-तैसे लोगों के साथ नाटक आदि किया करता था। परन्तु बड़ा विश्वासी था, इसीलिए तो उसे ठाकुर की इतनी कृपा मिली। इस बार ठाकुर उसका उद्धार कर गये। एक एक अवतार में उन्होंने एक एक दुराचारी का उद्धार किया है, जैसे कि चैतन्य अवतार में जगाई-मधाई का – उसी तरह और क्या! ठाकुर ने एक बार यह भी कहा था, 'गिरीश शिव का अंश है।' रुपये में क्या रखा है बेटी? ठाकुर तो रुपये छू तक नहीं पाते थे। हाथ टेढ़ा हो जाता था। वे कहते, 'जगत ही मिथ्या है। ओ रामलाल, यदि जानता कि जगत सत्य है, तो तुम्हारे कामारपुकुर को सोने से मढ़वाकर जाता। परन्तु जानता हूँ कि वह सब कुछ भी नहीं है – एकमात्र भगवान ही सत्य हैं।'

माकू शिकायत कर रही है, "क्या करूँ, मैं एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रह सकी!" इस पर माँ ने कहा, "स्थिर क्या है बेटी? जहाँ रहेगी वहीं स्थिर है। सोचती

है कि पति के पास जाकर स्थिर हो जाऊँगी, पर वह कैसे होगा ? उसकी थोड़ी-सी तनख्वाह है, कैसे काम चलेगा ? तू तो यहाँ मानो अपने पिता के घर में है। पिता के घर में क्या लोग नहीं रहते ? यही देख न, यह अपना घर छोड़कर यहीं रहती है। तुम लोग इतना-सा भी त्याग नहीं कर पाती ? इसे ही देख न, कैसी शान्त मूर्ति है ! मैं हूँ इसीलिए है, और तुम लोग नहीं रह सकती ?"

मैं – रहने दीजिए माँ, ठाकुर की बातें थोड़ा-सा और कहिए।

माँ – पुस्तकों में जो लिखते हैं, वह सब ठीक नहीं होता। ठाकुर ने मेरी जो षोड़शी पूजा की थी, उसके बारे में राम (रामचन्द्र दत्त) की पुस्तक में जो लिखा है, वह ठीक नहीं है।

घटना का वर्णन करने के बाद अन्त में उन्होंने कहा, "घर में नहीं, बल्कि ठाकुर के कमरे में जहाँ गोल बरामदे के पास गंगाजल का घड़ा रखा है, पूजा वहीं हुई थी। हृदय ने सारा आयोजन कर दिया था।"

उसी समय योगेन-माँ आयीं और खिड़की के पास खड़ी होकर माँ से कुछ कहना आरम्भ करते ही माँ ने कहा, "इधर आओ न, तुम लोगों को तो देख ही नहीं पाती हूँ।" योगेन-माँ हँसते हँसते माँ के पास आयीं। आते समय उनका पाँव मेरे शरीर से लग गया। उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करते देखकर मैं घबड़ाकर खड़ी हो गयी और उन्हें प्रणाम करते हुए बोली, "यह क्या योगेन-माँ, जो आपकी चरणधूलि के भी योग्य नहीं है, उसके शरीर से पाँव लग जाने पर प्रणाम !"

योगेन-माँ – सो क्या बेटी ! छोटा साँप भी साँप है और बड़ा साँप भी साँप है, तुम लोग भक्त जो हो !

माँ की ओर मुड़कर देखा तो उनके मुख पर वही करुणामयी हँसी थी। रात काफी हो चुकी है, यह देख थोड़ी देर बाद उन्हें प्रणाम करके मैंने विदा ली।

२८ जुलाई १९१८

संध्या के बाद गयी थी। आरती तब भी आरम्भ नहीं हुई थी। माँ रास्ते की ओर के बरामदे में एक आसन बिछाकर बैठी जप कर रही थीं। बड़ी गर्मी थी। पास जाकर प्रणाम करके बैठते ही माँ ने हवा करने के लिए पंखा मेरे हाथ में दे दिया। मैं हवा कर रही थी, उसी समय एक वयस्क विधवा ने आकर माँ को प्रणाम किया। माँ ने पूछा, "किसके साथ आयी ?"

उन्होंने कहा, "दरवान के साथ आयी हूँ" और इसके साथ ही माँ को हवा करने के लिए मुझसे पंखा माँगा। मैंने तत्काल दे दिया।

माँ बोलीं, "रहने दो, रहने दो, वही करे।"

उन्होंने कहा, "क्यों माँ, मेरे हाथ से थोड़ा-सा नहीं होगा ? ये लोग तो कर ही रही हैं।" माँ इस पर मानो थोड़ी नाराज हुईं। उन्होंने दो-एक मिनट हवा करने के बाद कहा, "तो फिर चलती हूँ माँ, एक बार महाराज के पास जाना होगा।" माँ के चरणों से सिर लगाकर प्रणाम करते ही वे अत्यन्त नाराज होकर बोलीं, "आह, पाँव में क्यों ? एक तो ऐसे ही तबियत खराब है – यही कर-करके तो यह सब (बीमारी) हुई है।" उनके चले जाने के बाद उन्होंने जल से अपने पाँव धो लिये। वे विधवा महिला गोलाप-माँ को थोड़ा देख आने के बाद (वे तब काफी बीमार थीं) पुनः माँ से विदा लेने आयीं। माँ ने कहा, "हाँ, हाँ, जाओ।" इसके पूर्व मैंने कभी माँ को किसी के साथ ऐसा व्यवहार करते नहीं देखा था।

बाद में माँ ने मुझसे कहा, "मेरा आसन उठाकर कमरे में ले जाओ और बिस्तर को नीचे बिछा दो।" माँ आकर लेटीं और घुटनों पर घी की मालिश कर देने को कहा। थोड़ी देर बाद वे बोलीं, "अब पीठ में मरिचादि तेल की मालिश कर दो।"

ललित बाबू की बात उठी। मैंने कहा, "माँ, सुना है कि वे आप ही की कृपा से बच गये हैं।"

माँ – उसकी अनेक इच्छाएँ थीं। उसकी जो अवस्था थी बेटी, पेट से बाल्टी भर-भरकर पानी निकलता था। बिल्कुल अन्तिम अवस्था में पड़ा था। तब उसने बड़े कातर स्वर में कहा, "माँ, मेरी बड़ी इच्छा थी कि कामारपुकुर तथा जयरामबाटी में मन्दिर और अस्पताल बनवाऊँगा, परन्तु तुमने कुछ भी नहीं करने दिया।' अहा ! ठाकुर ने बचाया है। वहाँ यह सब करने की इच्छा उसके समान अन्य किसी भी भक्त में नहीं है। बच गया है, अब कार्य करे। मेरे लिए उसने एक तालाब खरीद दिया है। ❑ (क्रमशः) ❑

ज्ञान-कर्म-मीमांसा

स्वामी भूतेशानन्द

(काफी काल से यह एक विवाद का विषय रहा है कि स्वामी विवेकानन्द का 'कर्मयोग' और शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित 'ज्ञानमार्ग' क्या परस्पर विरोधी हैं ? प्रस्तुत व्याख्यान में रामकृष्ण मठ/मिशन के परमाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है कि सारा विवाद दोनों विषयों की ठीक ठीक धारणा न कर पाने से ही उठता है और इनके बीच वस्तुतः कोई भी विरोध नहीं है। "Bulletin of the Ramakrishna Mission Institute of Culture' के फरवरी '९७ अंक से इसका अनुवाद रायपुर आश्रम के अन्तेवासी ब्रह्मचारी सुधीरचैतन्य ने किया है। – सं.)

क्या ज्ञान और कर्म परस्पर विरोधी हैं ?

मुझसे स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित 'कर्मयोग' और श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित 'ज्ञान-कर्म' के बीच तथाकथित आपसी विरोधाभास की विवेचना करने को कहा गया है। मैं आपको पहले ही यह बता देना चाहूँगा कि 'ज्ञान' तथा 'कर्म' शब्दों के अनुचित प्रयोग तथा उनके बारे में गलत धारणा के कारण ही इस विवाद तथा भ्रान्ति का उदय होता है। अतः पहले हम इन्हीं शब्दों के उचित अर्थ-निर्धारण का प्रयास करेंगे। श्री शंकराचार्य अपने विवेक-चूड़ामणि ग्रन्थ में कहते हैं –

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ॥

– कर्म चित्त की शुद्धि मात्र के लिए है, न कि आत्म-साक्षात्कार के लिए। वस्तु की प्राप्ति करोड़ों कर्मों से नहीं, अपितु विचार तथा ध्यान के द्वारा होती है।

कर्म तथा ज्ञान

कर्म से ज्ञान की या ज्ञान से कर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए हम प्रायः शंकराचार्य के श्लोक उद्धृत किया करते हैं। कभी कभी गीता (४/३३, ३७-३८) में भी हमें इस तरह की विरोधाभासी उक्तियाँ मिल जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार की चर्चाएँ बड़ी रोचक हुआ करती हैं, परन्तु इसका बारीकी से निरीक्षण करने पर हम देखते हैं कि इस तरह की तुलनाएँ शब्दों के अनुचित प्रयोग का शिकार हुआ करती हैं। जब कभी हम इन 'कर्म' तथा 'ज्ञान' शब्दों का उचित तथा ठीक सन्दर्भ के बिना प्रयोग करते हैं, तो उनसे भ्रम की सृष्टि होती है और इसके फलस्वरूप हम अलग अलग विषयों में घालमेल कर डालते हैं। जिन सन्दर्भों में इन शब्दों का प्रयोग हुआ है उन्हें प्रसंगानुसार भलीभाँति समझ लेना होगा।

शंकराचार्य ने 'कर्म' शब्द का उपयोग सकाम कर्म के अर्थ में किया है। शास्त्रों द्वारा विहित कर्म इसी जीवन अथवा परलोक में कुछ विशिष्ट प्रकार के अभ्युदय (समृद्धि) के साधनभूत हैं। कर्म शब्द से शंकराचार्य का तात्पर्य केवल इन्हीं से है।

कहते हैं कि बिना किसी motive (प्रेरणा या उद्देश्य) के कर्म करना सम्भव ही नहीं है। उद्देश्य ही हमें कुछ करने को प्रेरित करता है। थोड़ा-सा विचार करने से ही हमारी समझ में आ जायगा कि किसी-न-किसी कामना के बिना हममें यह प्रेरणा-शक्ति नहीं आ सकती और फिर अपूर्णता का बोध हुए बिना हममें कामना का उदय नहीं हो सकता। अपने वास्तविक स्वरूप के विषय में अज्ञानी रहने के कारण ही हमें इस अपूर्णता का बोध होता है। अतएव, शंकराचार्य के मतानुसार हम लोग अपूर्ण जीव होने के कारण ही अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। और इसी अपूर्णता को दूर करने के हेतु हम कर्म करने को प्रेरित होते हैं।

अविद्या, काम और कर्म

शंकराचार्य ने अविद्या, काम तथा कर्म – इन तीन शब्दों का इसी क्रम से उपयोग किया है। अविद्या का अर्थ है अज्ञान अर्थात अपने वास्तविक स्वरूप के विषय में भ्रान्त या उल्टी धारणा। काम से तात्पर्य है कामना-वासना और कर्म है सकाम कर्म। जैसा कि हमने देखा कि वासना हमें इहलोक या परलोक में अभ्युदय या समृद्धि हेतु कर्म करने को प्रेरित करती है और इसीलिए हम शांकर भाष्य में कई स्थानों पर देखते हैं कि इस कर्म से मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती, क्योंकि मोक्ष किसी भी कर्म का परिणाम या फल नहीं है। बल्कि यह तो समस्त कर्मों तथा फलों की पराकाष्ठा है, जहाँ लेशमात्र भी अपूर्णता नहीं रह जाती। और आज की भाषा में हम इसे पूर्णावस्था कह सकते हैं। ऐसी मुक्ति केवल ज्ञान से ही प्राप्त होती है।

इसी कारण श्री शंकराचार्य कहते हैं कि ज्ञान तथा कर्म, अन्धकार और आलोक के समान (परस्पर विरोधी) हैं, जिनका अस्तित्व एक साथ सम्भव नहीं है। ये एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न वस्तुएँ हैं। मोक्ष एक ऐसी विशिष्ट अवस्था है, जिसमें समस्त कामनाओं का क्षय हो जाता है, जबकि कर्म की उत्पत्ति ही कामनाओं से होती है। मैं एक बार पुनः आपको स्मरण कराना चाहूँगा कि केवल इसी सन्दर्भ में ज्ञान तथा कर्म परस्पर पूर्णतया भिन्न प्रतीत होते हैं, अन्यथा नहीं।

दुर्भाग्यवश शंकराचार्य के सामान्य अध्येताओं ने उनके द्वारा प्रयुक्त 'कर्म' शब्द को ठीक ठीक समझा नहीं समझा। उनकी ऐसी भ्रान्त धारणा है कि आचार्य शंकर ने कर्मों की पूर्ण इतिश्री का आदर्श ही हमारे समक्ष रखा है, परन्तु यहाँ यह भी जान

लेना आवश्यक है की कई स्थानों पर उन्होंने इस प्रकार की धारणा का निराकरण करते हुए यह भी बताया है कि केवल कर्मत्याग ही ज्ञान की अवस्था नहीं है। ज्ञान का अर्थ जड़ता नहीं है। मृत्यु तक मनुष्य के लिए किसी भी हालत में पूर्ण रूप से निष्क्रिय रह पाना असम्भव है।

जब तक हम जीवित हैं, तब तक हमें किसी-न-किसी प्रकार से क्रियाशील रहना ही पड़ेगा। अतः यदि एक ज्ञानी या ज्ञानमार्गी निष्क्रिय रहता है, तो वह ज्ञानमार्गी नहीं है, क्योंकि ज्ञान के लिए विचार करना भी तो एक प्रकार की क्रिया ही है, भले ही वह मानसिक क्रिया क्यों न हो। अतः जैसा कि हम सामान्यतया समझते है, वैसा आपसी विरोध इन दोनों में नहीं है।

एक बार एक वरिष्ठ साधु ने स्वामी तुरीयानन्द जी को लिखा था, "महाराज, मुझे तो लगता है कि किसी भी प्रकार का कर्म अन्ततः अहंकार की ही सृष्टि करता है, अतः लगता है कि मुझे सभी प्रकार के कर्मों से स्वयं को मुक्त रखना चाहिए।" तात्पर्य यह कि जिस कार्य का उत्तरदायित्व उन पर था, उसे वे करना नहीं चाहते थे। इसके उत्तर में महाराज ने लिखा, "क्या तुम सोचते हो कि कर्म नहीं करने से तुम्हारा अहंकार चला जायगा ? नैष्कर्म्य की यह धारणा गलत है।"

आचार्य शंकर ने इस नैष्कर्म्य शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। परन्तु नैष्कर्म्य का अर्थ शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं का पूर्ण अवसान नहीं है, क्योंकि उस अर्थ में तो केवल निष्प्राण मनुष्य ही पूर्ण रूप से निष्क्रिय रह सकता है। अतः शंकराचार्य या अन्य कोई भी आचार्य ऐसा कोई विधान नहीं करेंगे, जो जीवित लोगों के लिए उपयोगी तथा व्यावहारिक न हो।

तो फिर उनका भाव क्या है ? आचार्य शंकर ने बड़े ही सुन्दर ढंग से इस विचार को प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार वासना या इच्छा के द्वारा प्रेरित क्रिया को ही कर्म कहते हैं। कर्म से तात्पर्य सभी प्रकार की क्रियाओं से नहीं है। अतः कर्म तथा ज्ञान का विरोध केवल निम्नलिखित सन्दर्भ में ही है।

जब आप समस्त वासनाओं से मुक्त होने का प्रयास कर रहे हैं, तो उसी के साथ आप वासना-प्रेरित क्रियाओं में भी लिप्त नहीं रह सकते। स्मरण रहे कि दोनों में यही प्रमुख भेद है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कर्म तथा ज्ञान के बीच ऐसा भेद या संघर्ष चिरकाल तक बना ही रहे। कर्म जब कामनाओं या इच्छाओं – ध्यान रहे कि सब प्रकार की नहीं, बल्कि जब केवल स्वार्थपूर्ण कामनाओं – से प्रेरित नहीं होता, तो तकनीकी दृष्टि से वह कर्म नहीं रह जाता।

शंकराचार्य के विचार इस विषय में बड़े स्पष्ट हैं। वे कहते हैं – मान लो किसी व्यक्ति ने इहलोक या परलोक में किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए कोई वैदिक याग-यज्ञ या सकाम कर्म प्रारम्भ किया। वह कुछ काल तक उस यज्ञ को जारी रखता है और उसके पूरा होने के पहले ही उसके मन से उस प्राप्ति की इच्छा चली जाती है, परन्तु वह यज्ञ को केवल इसीलिए जारी रखते हुए पूरा करता है कि वह उसे बीच में ही अधूरा नहीं छोड़ना चाहता। परन्तु अब उसके यज्ञ के पीछे कोई स्वार्थपूर्ण इच्छा नहीं है। अतः तकनीकी दृष्टि से कहें तो यह कर्म नहीं हुआ और यह उसके लिए किसी फल या परिणाम की सृष्टि नहीं करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वार्थपूर्ण प्रेरणा के बिना सम्पन्न की हुई क्रिया शंकराचार्य के मतानुसार कर्म नहीं है।

निष्काम कर्म

अब अगला प्रश्न यह उठता है – मान लीजिए कि हम बिना किसी स्वार्थपूर्ण कामना के कोई कर्म करते हैं, तो क्या वह हमारे ज्ञान में बाधक नहीं होगा ? क्या ज्ञान के साथ इसका टकराव नहीं होगा ? बिल्कुल नहीं होगा, क्योंकि किसी टकराव का हमारे शास्त्रों में कहीं भी उल्लेख नहीं है। तो फिर "**चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये। वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः**" – इन पंक्तियों का क्या हुआ, जिनसे हमने प्रारम्भ किया था ? शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्मवस्तु की उपलब्धि केवल 'अज्ञान के नाश' द्वारा ही सम्भव है। और यह तभी हो सकता है, जब हम आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ठीक ठीक समझ लें। शंकराचार्य के मतानुसार किसी भी कर्म के द्वारा आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु हाँ, वे मनन तथा निदिध्यासन को कर्म की श्रेणी में नहीं रखते। और बाकी सभी कर्म परम तत्त्व की अनुभूति में सहायक नहीं हैं।

आत्मानुभूति क्या है ? शंकराचार्य के मतानुसार तत्त्वबोध का तात्पर्य उस ज्ञान से है, जो किसी भी सन्देह या भ्रान्त धारणा के साथ मिश्रित नहीं होता। असन्दिग्ध या अविपर्यस्त ज्ञान – जो सत्य है तथा सन्देह के लेशमात्र से भी रहित है, ऐसा ज्ञान ही पूर्णतः विशुद्ध ज्ञान है। अनुभूति से शंकर का यही तात्पर्य है।

अनुभूति के विषय में हमारे मन में बड़ी रहस्यपूर्ण तथा विचित्र धारणाएँ हुआ करती हैं। हम प्रायः ऐसा समझते हैं कि सहसा कुछ बोध हो जाना ही अनुभूति है और इससे पूरा संसार मानो एक तरह के चमत्कार के समान रूपान्तरित हो जाता है। इस सन्दर्भ में मैं यह बता देना चाहूँगा कि शंकराचार्य ऐसे किसी चमत्कार में

विश्वास नहीं करते। वे स्पष्ट तथ्यों पर विचार करनेवाले व्यक्ति हैं। यदि हमें अपने विषय में ऐसा ज्ञान प्राप्त करना हो, जो सभी प्रकार की भ्रान्त धारणा या शंका से परे हो, तो हमें इसकी क्रमशः उपलब्धि करनी होगी। यह सहसा ही किसी को प्राप्त नहीं होता। कठोर परिश्रम के द्वारा इसकी उपलब्धि करनी होगी। हमें एक एक कदम के द्वारा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना होगा और इस प्रगति का अन्तिम छोर ही लक्ष्य है।

यहाँ मैं एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। उपरोक्त ज्ञान की उपलब्धि एक ऐसी बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है, जिसकी अन्तिम परिणति अनुभूति में हो जाती हो। बल्कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो हमारे सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस प्रक्रिया में हमारे चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा – ये तीनों शक्तियाँ गहराई के साथ जुड़ी रहती हैं। जब हमारे व्यक्तित्व की ये तीनों शक्तियाँ इसी शुद्ध ज्ञान की उपलब्धि रूपी लक्ष्य की ओर उन्मुख की जाती हैं और यदि हम अन्त तक अपना अध्यवसाय बनाये रख पाते हैं, तो एक-न-एक दिन यह हमें उस ज्ञान की उपलब्धि करा देगा, जिससे हमारे मन में आत्मा के सच्चे स्वरूप के विषय में लेश मात्र भी सन्देह या अज्ञान नहीं रह जायगा।

शंकराचार्य के मतानुसार सर्वोच्च अनुभूति की प्रक्रिया में कर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रारम्भिक अवस्था में कर्म उपयोगी हो सकता है। जैसा कि कहा गया है – **चित्तस्य शुद्धये कर्म** – चित्तशुद्धि के लिए ही कर्म है। पहले चित्त को शुद्ध करना होगा और तब उस शुद्ध चित्त से परम लक्ष्य की उपलब्धि करनी होगी।

अब प्रश्न उठता है कि चित्तशुद्धि के लिए हमें कब तक कर्म करना होगा? शंकराचार्य के मतानुसार तब तक करना होगा, जब तक कि चित्त शुद्ध होकर मनन तथा निदिध्यासन अर्थात उद्देश्य के विषय में बौद्धिक धारणा तथा गहन ध्यान की क्षमता नहीं प्राप्त कर लेता। कर्म केवल इसी अवस्था की प्राप्ति तक सहायक हो सकता है। जब मनन तथा निदिध्यासन की अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब फिर कर्म की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। तब हमारा कर्म समाप्त हो जाता है और सहज भाव से उसका लोप हो जाता है। इसके बाद ज्ञान की प्रक्रिया आरम्भ होती है। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, शंकराचार्य के मतानुसार अनुभूति की अन्तिम अवस्था तक कर्म नहीं जा सकता।

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार ज्ञान तथा भक्ति के समान ही 'कर्म' भी हमें सीधे सर्वोच्च लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। कर्म का उद्देश्य ही चित्तशुद्धि है, इसलिए

किसी भी अवस्था में उसका त्याग नहीं करना है। और चित्त जब शुद्ध हो जाता है तो फिर करने को बचा ही क्या ? स्वामीजी कहते हैं कि तब सत्य अपने आप ह प्रकाशित हो उठता है।

मैं इस प्रक्रिया की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। इसे समझं का प्रयास करें। कौन-सी ऐसी चीज है, जो हमें परम अनुभूति से वंचित कर रह है ? चित्त की अशुद्धियाँ। ये ही सत्य को हमसे छिपाये रखती हैं। एक उदाहरण स यह बात आपके सामने स्पष्ट हो जायेगी। मन एक पारदर्शी काँच के समान है। परन् वर्तमान में वह कामनाओं तथा वासनाओं की धूल तथा गन्दगी से आच्छन्न है निःस्वार्थ कर्म काँच की इस गन्दगी को दूर करके उसे पारदर्शी बना देता है। इसवे बाद क्या होता है ? काँच ज्योंही पारदर्शी हो जाता है, त्योंही हम सत्य के प्रत्यक्ष रूप से सम्मुखीन हो जाते हैं। मानो परदे का ही लोप हो जाता है। तब वह सत्य वे साक्षात्कार में बाधक नहीं होता, बल्कि हो भी नहीं सकता। तब हमारे लिए सर्वोच्च तत्त्व से अलग रखनेवाली किसी भी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रह जाता श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मा एक ही चीज है। यहाँ बुद्धि स तात्पर्य चित्त या अन्तःकरण से है, जिसे हम आधुनिक भाषा में मन कहते हैं। ऐस नहीं है कि केवल श्रीरामकृष्ण ने ही यह बात कही हो, शास्त्र भी इसके समर्थन मे बताते हैं कि जब चित्त पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाता है, तो हम परम तत्त्व के साथ एकाकार हो जाते हैं।

कहते हैं कि केवल ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान को दूर किया जा सकता है और ज्ञान का अर्थ है मन की एक विशिष्ट अवस्था, जिसे ब्रह्माकारा-वृत्ति कहते हैं। केवल वही अज्ञान को दूर करने में सक्षम है। यह एक बड़ा ही तकनीकी तथा बौद्धिक विवेचन है, जो हमारे व्यावहारिक उद्देश्य की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं रखता। जब मन पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, तब मन मन नहीं रह जाता — **तत्र मनः अमनी भवति**। मन अमन कैसे हो जाता है ? स्वामीजी के मतानुसार शुद्धीकरण की यह प्रक्रिया ही मन को अमन बना देती है। तब हमें परम वस्तु से पृथक करनेवाला कुछ भी नहीं रह जाता और इस प्रकार हम सत्य का साक्षात्कार करके उसके साथ एकाकार हो जाते हैं। सिद्धान्ततः शंकराचार्य इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उन्हें केवल ज्ञानमार्ग से ही साधक को परिचालित करना है। परन्तु श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के मतानुसार इनमें से प्रत्येक मार्ग हमें परम सत्ता की उपलब्धि कराने में पूर्णरूपेण सक्षम है। दूसरी तरफ शंकर के मतानुसार यहाँ तक कि

भक्ति भी अद्वैत के परम लक्ष्य तक नहीं पहुँचाती। क्योंकि उसमें आप ईश्वर रूप सत्ता से स्वयं को अलग रखते हैं। इस कारण उसमें द्वैत का पूरा लोप नहीं होता।

मान लीजिए कि द्वैत का लोप नहीं भी होता है, तो इसमें हानि क्या है ? यदि यह द्वैत हमें किसी भी प्रकार से हीन बनाता हो, तभी तो उसका तिरस्कार करना उचित है। परन्तु मान लीजिए कि यह हमें हीन नहीं बनाता और उसकी जगह हमें ईश्वर या उनकी सत्ता का पूर्ण बोध करा देता है, तो फिर इसमें बुराई क्या है ?

जिनसे इस जगत की उत्पत्ति हुई है, जिनमें यह स्थित है और जिनमें इसका विलय हो जाता है, ज्ञानमार्ग में उन्हें 'ब्रह्म' कहा जाता है, जबकि भक्तिमार्ग में उनके लिए हम 'ईश्वर' शब्द का उपयोग करते हैं। सत्य के विषय में इन दो धारणाओं के बीच कुछ तकनीकी भेद हो सकता है। ध्यान रहे, मैं तकनीकी भेद कह रहा हूँ, जो शायद किसी विद्वान के लिए अपनी युक्ति-कौशल तथा क्षमता दिखाने में उपयोगी हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह भेद अर्थहीन है।

श्रीरामकृष्ण के मतानुसार एक भक्त उस ईश्वरीय कृपा का, उस दिव्य अनुभूति का पूर्ण रूप से सदा-सर्वदा रसास्वादन कर सकता है। इसमें हानि ही क्या है ? शंकराचार्य का कहना है कि जहाँ कहीं भी द्वैत होता है, वहाँ संघटन की सम्भावना (सम्भावना ही नहीं बल्कि निश्चितता) होती है और इस कारण कभी-न-कभी उसका विघटन अवश्य होगा। परन्तु ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह हमारे चिर-परिचित वैषयिक जगत के विषय में सत्य है। यह जगत अशुद्ध है, परन्तु एक ऐसी भी अवस्था हो सकती है, जहाँ अशुद्धि का पूर्णतः लोप हो जाय और उस अवस्था में इस जगत के नियम उस पर लागू न हों। इसलिए इस जगत में हम जिन युक्तियों का उपयोग करते हैं, वे उस अवस्था में प्रयुक्त नहीं होंगी। शंकर को भी उस तरह की अवस्था स्वीकार करनी पड़ी है, जहाँ मनुष्य युक्ति के परे चला जाता है। उनके अद्वैत को सिद्ध करने के लिए भी इसके परे जाना होगा। जब ब्रह्माकारा वृत्ति का उदय होता है, जब अद्वैत भाव आता है, और स्मरण रहे कि यह एक भाव मात्र है, तो वह भाव अज्ञान का पूर्णतया नाश कर देता है। तब उस भाव को कौन दूर करता है ? वस्तुतः वह एक भाव है और वह अपना कुछ वैशिष्ट्य बनाये रखता है। उस भेद का कैसे लोप होगा ? इसका अपने आप लोप नहीं हो सकता। इसे दूर करनेवाला कोई तत्त्व होना चाहिए। वह तत्त्व क्या है ? शंकराचार्य कहते हैं, "अरे, यह वैसे ही लुप्त होता जाता है, जैसे कि निर्मली का फल या फिटकरी, जो जल की सारी अशुद्धियों को दूर करके स्वयं उसी में घुल जाता है।"

यह कोई दृष्टान्त नहीं हुआ। वैसे यह शंकर का अज्ञान नहीं है। मेरा ऐसा तात्पर्य नहीं है। उन्होंने एक अवस्था की व्याख्या करने का प्रयास किया और बड़े सही ढंग से उसकी व्याख्या की। परन्तु यहाँ उसका प्रसंग नहीं है। यहाँ प्रसंग है शंकराचार्य तथा स्वामीजी के बीच भेद की। यदि शंकर द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की प्रक्रिया अज्ञान का पूरी तौर से नाश करके व्यक्ति को सत्य का प्रत्यक्ष बोध तथा उसके साथ अभिन्नता की अनुभूति करा सकती हो, तो फिर कर्म भी ऐसा करने में पूरा सक्षम क्यों नहीं हो सकता ? वैसे कर्म जब बिना किसी स्वार्थयुक्त प्रेरणा के सम्पन्न किया जाता है, तो वह निष्काम कर्म हो जाता है।

शंकराचार्य यह स्वीकार करते हैं कि निष्काम कर्म चित्त को शुद्ध करता है। निष्काम ही क्यों, सकाम कर्म भी इसमें कुछ हद तक सहायता करता है। इसीलिए इसे वेदों में भी स्थान मिला हुआ है। ऐसा इसलिए है कि सकाम कर्म भी हमारी पाशविक प्रवृत्तियों पर किंचित नियमन की अपेक्षा रखता है। अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर नियंत्रण किये बिना हम वैदिक कर्मों का भी सम्पादन नहीं कर सकते। इसलिए ऐसे कर्म भी, अभ्युदय के हेतु जिनका वेदों में विधान किया गया है, काफी प्रभावी हैं। ये चित्त को शुद्ध करते हैं और मनुष्य को स्वयं पर नियंत्रण की प्राप्ति कराते हैं। इस प्रक्रिया को जारी रखने से व्यक्ति क्रमशः निःस्वार्थ होता जाता है और ध्यान रहे कि जब वह पूर्णतया निःस्वार्थ हो जाता है, मैं इन शब्दों पर जोर देता हूँ, तब उसका मन स्वयं के परे चला जाता है। वह समस्त अशुद्धियों से मुक्त हो जाता है और तब वह सत्य को आच्छन्न नहीं रख सकता। इस बात को हमें भलीभाँति समझ लेना होगा। स्वामीजी के निष्काम कर्म का यही भाव है। उन्होंने इस पर बल दिया है और यह श्रीरामकृष्ण की शिक्षाओं के साथ सामंजस्य भी रखता है। श्रीरामकृष्ण का यही विश्वास था। वैसे स्वामीजी ने इस पर इतना अधिक बल दिया है कि कभी कभी लगता है कि यह आवश्यक नहीं था। परन्तु यदि हम स्वामीजी के काल की ओर देखें, तो पायेंगे कि तत्कालीन लोग सोचते थे कि किसी भी तरह के कर्म में लिप्त होना माया है। मैं आप लोगों को एक रोचक घटना बताता हूँ।

उत्तरकाशी में एक समय एक साधु को हैजा हो गया। जब स्थानीय संन्यासियों को इसका पता चला, तो वे यह कहते हुए वहाँ से पलायन कर गये कि वह व्यक्ति उनके ध्यान में विक्षेप उत्पन्न करेगा। बड़ा ही अद्भुत रहा होगा वह ध्यान! मान लीजिए कि वे उसकी सेवा करने लगते, तो जैसा कि स्वाभाविक है, उससे उनके ध्यान में किंचित बाधा आती। वे लोग अपने ध्यान में मन को एकाग्र नहीं कर

पाते। उन्हें उस व्यक्ति से थोड़ी आसक्ति भी हो सकती थी; इसलिए उस आसक्ति से मुक्त रहकर अन्यत्र प्राप्त होनेवाली भिक्षा में आसक्त रहना ही उचित समझा गया। तथ्यों की गलत व्याख्या से ही इस तरह की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

संसार से उदासीनता

स्वामीजी ने देखा कि हमारे देशवासी संसार से उदासीनता के इस भाव से इतने अधिक ग्रस्त हैं कि भक्तिमार्गी तक उपरोक्त अनुचित ढंग से संसार से उदासीन रहने का प्रयास करते हैं। यह भाव न केवल साधना के विरुद्ध है, बल्कि अधर्म तथा स्वार्थपूर्ण भी है। यह हमारे भीतर निहित सत्य को और भी अधिक आच्छन्न कर देगा। यह अज्ञान को और भी संघन तथा दुर्भेद्य बना देगा। इसीलिए स्वामीजी ने निष्काम कर्म पर इतना अधिक बल दिया है। स्वामीजी ने हमें बताया कि इस निःस्वार्थ कममार्ग के द्वारा राष्ट्र, न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से, बल्कि भौतिक दृष्टि से भी समृद्ध होगा। जिसे लोग सत्त्वगुण समझते थे, वह वस्तुतः सत्त्व के छद्मावरण में घोर तमोगुण था। बड़ी सावधानी के साथ इनका भेद समझ लेना होगा, क्योंकि वे एक समान दिखाई देने पर भी उनके गुणों में आकाश-पाताल का भेद है।

शंकराचार्य तथा स्वामीजी के बीच शास्त्रीय दृष्टि से कुछ मतभेद हो सकता है, परन्तु वस्तुतः उनमें कोई मतभेद नहीं है। शंकर ने भी चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्म को स्वीकार किया है और स्वामीजी भी ऐसा ही करते हैं। शांकर वेदान्त-मत के अनुसार अज्ञान को दूर करने के लिए 'ज्ञान' आवश्यक है। ज्ञान से वृत्तिज्ञान या आत्मा की धारणा का उदय होता है। केवल सत्य की धारणा ही आत्म-विषयक हमारे अज्ञान को दूर कर सकती है। इसी कारण कहा गया है कि यह ब्रह्माकारा वृत्ति (भाव रूप में ज्ञान) आवश्यक है और यही परम तत्त्व की उपलब्धि का प्रत्यक्ष कारण है। शंकराचार्य का ऐसा ही मत है। परन्तु स्वामीजी इन सब विवरणों में न जाकर कहते हैं कि चित्त को शुद्ध कर लो, तो फिर करने को बचा ही क्या ? इसी से तुम्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी। तुम्हारे और ब्रह्मवस्तु के बीच कोई अवरोध ही नहीं रह गया। श्रीरामकृष्ण के मतानुसार शुद्ध बुद्धि तथा शुद्ध आत्मा एक ही वस्तु हैं, अतः हम स्वयं ही ब्रह्मवस्तु हो जाते हैं, हमारा मन ब्रह्मवस्तु के साथ एकाकार हो जाता है। चित्त के पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाने पर हम वही हो जाते हैं, जो होना चाहते थे – अर्थात शुद्ध आत्मा। स्वामीजी इसी बात पर जोर देते हैं।

❑ ❑ ❑

चेतावनी

कृपाशंकर अग्निहोत्री

उठो मुसाफिर अब तो जागो, बहुत सो चुके बहुत सो चुके ॥

पड़े गर्भ में तुम कहते थे, आह ! दयानिधि कष्ट निवारो ।
तुम्हें न भूलेंगे जीवन भर, आज यहाँ से हमें उबारो ।
रोते-रोते आये जग में, जीवन में तुम बहुत रो चुके ॥

जिसने जीवन तुम्हें दिया है, उस पर कटु आरोपण करते ।
कुछ भी सुख पा सके नहीं हम, ऐसा प्रति आरोपण करते ।
नहीं निभाया दिया वचन वह, तुम अपना विश्वास खो चुके ॥

जितना भी तुम पाते जाते, तृष्णा उतनी बढ़ती जाती ।
जिसमें तुमको प्रीति बढ़ाना, निष्ठा उसमें घटती जाती ।
माया-मोह इसी में लिपटे, तुम विषयों के बीज बो चुके ॥

मानव-देह बहुत दुर्लभ है, क्यों इसको तुम भूल रहे हो ।
सब कुछ मेरा यही सोचकर, क्यों तुम इतना फूल रहे हो ।
पुण्य न संचित कर पाये तो, कभी न अपने पाप धो चुके ॥

सोचो अब भी समय शेष है, बढ़कर प्रभु को गले लगाओ ।
रहता तुममें जो अशेष है, उसको अपना मीत बनाओ ।
समय नहीं मिलता यह कहते, बन्धु ! बहाने बहुत हो चुके ॥

❑ ❑ ❑

मानव-जीवन का प्रयोजन

स्वामी सत्यरूपानन्द

प्रत्येक विचारशील मनुष्य के मन में कभी-न-कभी यह प्रश्न अवश्य उठता है कि आखिर मानव-जीवन का प्रयोजन क्या है ? प्रकृति की प्रक्रिया से जन्म लेना, प्रकृति के नियमानुसार जीवन जीना और एक दिन प्रकृति के ही नियमानुसार मर जाना ! यह तो मानव-जीवन का प्रयोजन नहीं हो सकता।

मनुष्येत्तर जितने भी प्राणी हैं, उनके जीवन का प्रयोजन प्रकृति ने ही निर्धारित कर रखा है। प्रकृति ने यह व्यवस्था कर रखी है कि किस प्राणी का क्या प्रयोजन है। प्रकृति ने बैल बनाया, घोड़े बनाया, बकरे-बकरियाँ उत्पन्न कीं। इन सभी पशुओं के अलग अलग कार्य हैं। बैल से ठीक ठीक घोड़े जैसा कार्य नहीं लिया जा सकता। यदि वैसा किया गया तो बैल मर जायगा। बैल को प्रकृति ने जैसा बनाया है, उसके अनुरूप ही उससे कार्य लेना पड़ेगा। एक शेर कभी एक बकरी जैसा आचरण नहीं कर सकता और न एक बकरी शेर जैसा आचरण कर सकती है। ये सभी प्राणी पूरी तरह से प्रकृति के नियमों से बँधे हैं।

किन्तु मनुष्य में यह अद्‌भुत सामर्थ्य है कि यदि वह चाहे तो कुत्ते के समान व्यवहार कर सकता है और यदि चाहे तो शेर के समान भी व्यवहार कर सकता है। मनुष्य को ईश्वर ने यह स्वाधीनता दे रखी है कि यदि वह चाहे और अपनी चाह के अनुरूप परिश्रम करे, तो वह प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण कर सकता है। उनसे ऊपर उठकर प्रकृति की दासता से मुक्त हो सकता है। मनुष्येत्तर प्राणियों के समान, मनुष्य प्रकृति का दास नहीं है।

हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति में कहानियों तथा उपदेशों के माध्यम से शिक्षा देने की व्यवस्था थी। इस विषय में 'हितोपदेश' नाम की एक छोटी सुन्दर पुस्तक है। उसमें उपदेशकार ने बड़ी सरल भाषा में मनुष्य और पशु का अन्तर बताया है। वे लिखते हैं –

आहारनिद्राभयमैथुनश्च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः॥ (कथामुख, २५)

भोजन करना, सोना, भय तथा मैथुन – ये सभी बातें पशु और मनुष्य में समान है। किन्तु मनुष्य में एक विशेष गुण है 'धर्म' जो पशु में नहीं है। इस धर्म के कारण

ही मनुष्य पशु से भिन्न है। अन्यथा मनुष्य और पशु में क्या अन्तर है ?

यह धर्म क्या है, जिसने मनुष्य को पशु से भिन्न और श्रेष्ठ बनाया है ? इस बात पर थोड़ा विचार करेंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य-योनि पशुओं के समान जीवन बिताने के लिए नहीं बनी है।

वैसे हम देखें तो प्रत्येक वस्तु का एक धर्म होता है। उदाहरणार्थ अग्नि। अग्नि का मौलिक धर्म उसकी उष्णता या दाहिका शक्ति है। यदि अग्नि से उसकी दाहिका शक्ति निकाल ली जाय, तो अग्नि नष्ट हो जायगी। उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। अतः यह निष्कर्ष निकला कि जिस तत्त्व को हटा लेने पर वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जाय, वह तत्त्व ही उस वस्तु का मौलिक धर्म है।

आइये देखें, मनुष्य जीवन में ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जिसे निकाल लेने पर मनुष्य की 'मनुष्यता' ही समाप्त हो जाती है; भले ही उसका दैहिक अस्तित्व समाप्त न हो। आप सब डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त से साधारणतः परिचित हैं। उन्होंने यह बताया कि मनुष्य आज जैसा है वह अकस्मात नहीं हो गया। विकास के क्रम में धीरे धीरे विकसित होते हुए वह आज की अवस्था में पहुँचा है।

प्रारम्भ में एककोषीय जीव 'अमीबा' था। अपने जीवन और अस्तित्व के लिए उसे संघर्ष करना पड़ा। उसके कोषों का विभाजन और वृद्धि हुई। उस अमीबा के भीतर एक ऐसा तत्त्व था, जो स्वयं को अधिक-से-अधिक प्रकाशित करना चाहता था। इस प्रक्रिया में एक-दो कोषोंवाली देह उतनी सहायक नहीं हुई, पर्याप्त नहीं हुई। इसिलिए अमीबा ने अपने कोषों को अरबों खरबों गुना बढ़ाया और उसके परिणामस्वरूप हमारी पृथ्वी पर डायनासारस, टायनासारस जैसे महा पशु अस्तित्व में आये। इन पशुओं का हमारी पृथ्वी पर करोड़ों वर्षों तक साम्राज्य था।

यद्यपि इन पशुओं का शरीर अत्यन्त विशाल था, तथापि उनमें बुद्धि की मात्रा अत्यन्त अल्प थी तथा उनका मानसिक विकास भी प्रायः शून्य था। एककोषीय सूक्ष्म जीव के माध्यम से स्वयं को प्रकाशित करने का प्रयत्न करनेवाले उस चैतन्य ने पाया कि महापशुओं की विशाल देह में भी उस चैतन्य को प्रकाशित करने की क्षमता एककोषीय जीव की तुलना में कुछ विशेष अधिक नहीं है। क्योंकि महापशुओं की विशाल देह में भी जड़ तत्त्व की मात्रा ही अधिक थी। बुद्धि और मन का उनमें नहीं के बराबर ही विकास हुआ था। और हम सभी यह जानते हैं कि जड़ तत्त्व चैतन्य के प्रकाश का अत्यन्त ही अनुपयुक्त तथा अक्षम माध्यम है।

प्रकृति ने अपना प्रयोग जारी रखा। महापशुओं का विनाश हो गया। उनकी तुलना में छोटी देह किन्तु अधिक बुद्धिवाले प्राणी इस पृथ्वी पर आये। विकास का क्रम निरन्तर चलता रहा। बाद में आनेवाले प्राणियों में बुद्धि तथा मन का क्रमशः विकास होता गया और मनुष्य-योनि में उस विकास का परिपाक हुआ। विकास के क्रम में प्रकृति को करोड़ों वर्ष लगे, तब कहीं विकास का क्रम मनुष्य तक पहुँच सका। किन्तु डार्विन के विकासवाद में इस बात पर विचार नहीं किया गया है कि इस विकास का लक्ष्य क्या है? हिन्दू पुराणों के अनुसार ८४ लाख तथा आधुनिक विज्ञान के अनुसार १ करोड़ से भी अधिक योनियों में भटकता हुआ विकसित तथा प्रकाशित होनेवाला 'तत्त्व' पहुँचना कहाँ चाहता है? उसकी नियति क्या है?

क्योंकि विकासवाद के सिद्धान्त पर विचार करते ही एक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है कि अवश्य ही कोई अविकसित या संकुचित तत्त्व सन्निहित है, जिसका कि विकास हो रहा है। बिना किसी अविकसित या संकुचित तत्त्व के विकास सम्भव ही नहीं है। उदाहरणार्थ वट के छोटे से बीज में सूक्ष्म रूप से सम्पूर्ण विशाल वट वृक्ष सन्निहित होता है। उचित भूमि, खाद, पानी आदि पाने पर वह बीज यथासमय विकसित होकर विशाल वट वृक्ष का रूप ले लेता है।

वट के उस सूक्ष्म बीज में सौ वर्षों में विकसित होनेवाला विशाल वृक्ष सन्निहित होता है। तभी तो वह यथासमय पूर्ण विकसित होकर वट वृक्ष बनता है।

एक रेत के कण को बोकर उसे वृक्ष के बीज के समान खाद-पानी देने पर भी क्या उसमें से वृक्ष उगेगा? कदापि नहीं। क्योंकि रेत के कण में सूक्ष्म वृक्ष विद्यमान नहीं है, जो कि वट के बीज में है। विज्ञान ने हमें यह सत्य बताया है कि शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार दूसरा तत्त्व यह है कि जड़ से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। जड़ को वांछित रूपादि देने के लिए चैतन्य-शक्ति की आवश्यकता होती है। लोहे के एक टुकड़े से लोहे का दूसरा टुकड़ा नहीं पैदा हो सकता, किन्तु एक वृक्ष के बीज से, अनुकूल परिस्थितियाँ मिलते ही उसी प्रकार का दूसरा वृक्ष पैदा हो जाता है। यह इसलिए होता है क्योंकि वृक्ष के बीज में वह वृक्ष सूक्ष्म रूप से विद्यमान है तथा उसके साथ ही एक चैतन्य-शक्ति भी उसमें सन्निहित है, जो बीज के वृक्ष को विकसित करती है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अमीबा से लेकर मनुष्य तक विभिन्न योनियों में से होकर जिस तत्त्व का विकास हो रहा है, या हुआ है, वह तत्त्व

अविकसित रूप में अमीबा में पूर्णतः विद्यमान था। उसी तत्त्व का विभिन्न योनियों के माध्यम से क्रमशः विकास हुआ है।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने सत्य को जानने के प्रयत्न में मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन किया। संसार के तत्त्वों का अध्ययन किया। उत्पत्ति-विनाश के रहस्यों को जानने का प्रयत्न किया और अपने प्रयत्न में सफल होकर उन्होंने संसार के रहस्य को जान लिया।

मानव-व्यक्तित्व का अध्ययन एवं विश्लेषण कर उन्होंने पाया कि मानव केवल हाड़-मांस का पुतला, जड़ मात्र नहीं है। उसके भीतर एक चैतन्य अविनाशी तत्त्व है। देह के भीतर जो देही है, वह अविनाशी है। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा – **देही नित्यं अवध्यः अयम् देहे सर्वस्य भारत** – इन सभी देहों के भीतर जो देही है, वह नित्य है, अवध्य है। यह अवध्य सत्ता चैतन्य है। पूर्ण है। विभिन्न देहों के माध्यम से स्वयं को प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहा है। डार्विन के विकासवाद में विकास के क्रम पर तो विचार किया गया, उस पर प्रकाश डाला गया, किन्तु जीव के विकास का उद्देश्य क्या है ? विकसित होकर जीव कहाँ पहुँचना चाहता है ? क्या होना चाहता है ? इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है।

तब क्या विकास एक उद्देश्यहीन एक अन्धी दौड़ है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जीव के विकास का क्रम एक अन्धी दौड़ नहीं है। विकास का एक निश्चित उद्देश्य है। विकास अनन्त काल तक नहीं चल सकता। कही-न-कहीं वह समाप्त होगा। पूर्ण होगा। पूर्णता ही विकास का लक्ष्य है। डार्विन के विकासवाद में इसका कोई स्थान नहीं है। इस पर कोई विचार नहीं किया गया है।

हमारे देश में लाखों लोग प्रतिदिन अपने पूजा-पाठ की समाप्ति पर उपनिषद् के एक मंत्र का पाठ करते हैं। उसकी आवृत्ति करते हैं। वह मंत्र है –

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (ईशा. शान्ति.)

– वह (चैतन्य) सब प्रकार पूर्ण है। यह जगत भी पूर्ण ही है। उस पूर्ण से ही यह पूर्ण उत्पन्न हुआ है। पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही बच रहता है।

पूर्ण सदैव ही अव्यय होता है। पूर्ण से पूर्ण को घटा दीजिए, तो पूर्ण ही बचेगा। पूर्ण में पूर्ण को जोड़ दीजिए, तो पूर्ण ही बचेगा। पूर्ण को पूर्ण से गुणा कीजिए, भाग दीजिए, कुछ भी कीजिए, पूर्ण ही बचेगा। यह पूर्णता उस चैतन्य सत्ता का स्वभाव

है। वही चैतन्य विभिन्न योनियों में होकर स्वयं को पूर्णतः प्रकाशित करने के प्रयत्न में लगा है। और जब तक वह सत्ता स्वयं को पूरी तरह प्रकाशित नहीं कर लेती। अपनी पूर्णता का स्वयं अनुभव नहीं कर लेती, तब तक वह शान्त नहीं होगी, जन्म-मरण और विकास का यह क्रम चलता ही रहेगा।

क्योंकि पूर्णता हमारा स्वभाव है, अतः पूर्णता की अखण्ड अनुभूति के बिना हमें कभी भी पूर्ण तृप्ति या शान्ति नहीं मिल सकती। वनों में निवास करनेवाले एक अशिक्षित, असंस्कारित व्यक्ति से लेकर शहरों में रहनेवाले शिक्षित संस्कारित बड़े बड़े विद्वान, सभी पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं। उदाहरणों से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

आप सब विद्यार्थी हैं। कोई मेकनिकल विद्या पढ़ रहा है। कोई सिविल इंजीनियरी पढ़ रहा है। कोई एलेक्ट्रानिक्स आदि। आप अपनी विद्या से पूर्णतः सन्तुष्ट तब तक नहीं हो सकते, जब तक कि आप उस विद्या का आद्योपान्त सब कुछ जान लें। अभियांत्रिकी विद्या के किसी एक विभाग का सब कुछ जान लेने पर भी दूसरे भी विभागों के सम्बन्ध में जानने की आपकी इच्छा बनी रहेगी और उस इच्छा के पूर्ण न हो सकने पर आपको दुख और असन्तोष होता ही रहेगा। ऐसा इसलिए होता है कि आपके मन में अभी भी अपूर्णता और अभाव का बोध शेष है। आप सब कुछ जानना चाहते हैं, किन्तु अभी जान नहीं पाये हैं। अभी भी बहुत कुछ जानना बाकी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में जहाँ अपूर्णता का बोध है, मनुष्य सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसके मन में यह अदम्य इच्छा बनी रहती है कि उसे पूर्ण ज्ञान हो जाय।

उसी प्रकार हम सभी सुख चाहते हैं। कैसा सुख ? असीम और अनन्त सुख। अपने आप से पूछकर देखें कि आज तक जितने सुख हमने भोगे हैं, अभी भोग रहे हैं, क्या हम उससे सन्तुष्ट हैं, तृप्त हैं ? क्या हम और अधिक सुख नहीं चाहते ? क्या हम यह नहीं चाहते कि वे सुख और अधिक दिनों तक और अधिक मात्रा में हमें मिलते रहें। जो भी सुख हम इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, हम उनसे सन्तुष्ट नहीं हैं। तृप्त नहीं है। जन्म से आज तक हमने कितनी बार सुस्वादु भोजन का स्वाद-सुख लिया, फिर भी क्या सुस्वादु भोजन करने की इच्छा तृप्त हुई है ? कितनी बार स्पर्श का सुख लिया है, किन्तु क्या हम उससे तृप्त हो गये हैं ? इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी प्रकार का सुख जो सीमित है, हमें कभी तृप्त नहीं कर सकता ? हम अनन्त और असीम सुख चाहते हैं।

हम असीम ज्ञान चाहते हैं; असीम सुख चाहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि हमारे छोटे-से ससीम जीवन में असीम ज्ञान और असीम सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इस बात पर यदि हम विचार करें, तो हम पायेंगे कि हम जीवन भी अनन्त चाहते हैं। हममें से कोई मरना नहीं चाहता। हम सभी अमर रहना चाहते हैं। अनन्त काल तक जीवित रहना चाहते हैं।

हम सबका अनुभव यह बताता है कि हम अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख चाहते हैं। यह असीम सुख, असीम ज्ञान और असीम जीवन सीमित साधनों और सीमित वस्तुओं से कभी नहीं मिल सकता।

प्रकृति ने अमीबा से लेकर मानव-देह तक प्रयोग करके देख लिया कि जहाँ भी सीमायें हैं, देह है, इन्द्रियाँ हैं, वहाँ यह असीम सुख नहीं मिल सकता। इन्द्रियों से मिलनेवाला सुख, इन्द्रियों से मिलनेवाला ज्ञान और इन्द्रिय पर आधारित जीवन कभी भी असीम अनन्त नहीं हो सकता।

किन्तु सभी देशों और सभी कालों के अनुभवी महापुरुषों ने हमें बताया है कि एक ऐसा तत्त्व है जो इन्द्रियातीत है। किसी भी इन्द्रिय से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी वासनारहित सर्वदा शुद्ध मन में उसकी अनुभूति होती है। उसे ही आत्म-साक्षात्कार या आत्मज्ञान कहते हैं। उस अनुभूति के बाद व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में आमूल परिवर्तन हो जाता है। उसे अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त जीवन प्राप्त हो जाता है।

इस अनन्त जीवन-प्राप्ति का अधिकार केवल मानव-योनि में ही है। मानवेत्तर अन्य सभी योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। उनमें केवल अपने कर्मों का फल भोग करना पड़ता है। उनमें मुक्ति या अनन्त जीवन पाने का अधिकार नहीं है।

आप हम सब मनुष्य हैं। विकास के क्रम में हम उन्नत होते जा रहे हैं। आज से २५ सौ वर्ष से भी अधिक पूर्व एक राजकुमार जो अत्यन्त सुन्दर, स्वस्थ तथा सद्गुण-सम्पन्न युवक था। एक उच्च कुलजात अनिन्द्य सुन्दरी जिसे पत्नी के रूप में प्राप्त हुई थी। धनधान्य सम्पन्न ! संसार के सभी सुख-भोग उसे उपलब्ध थे। किन्तु ३० वर्ष की अवस्था में जबकि उसकी पत्नी ने एक पुत्ररत्न को अभी ही जन्म दिया था। उस सद्यःजात पुत्र को छोड़कर संसार के वैभव, भोग और विलास को ठुकरा कर संसार के दुःखों के पार जाकर अनन्त सुख और अनन्त जीवन की खोज में निकल पड़ा। और वही राजकुमार भगवान बुद्ध हो गया। उसी प्रकार राजकुमार वर्धमान तीर्थंकर महावीर हो गये।

कलकत्ते के एक नामी एटार्नी के सुपुत्र, जिसकी प्रतिभा ऐसी थी कि जो युगों में कभी एक बार प्रगट होती है और जिस प्रतिभा के सम्मुख संसार आश्चर्यचकित होकर नत-मस्तक हो जाता है। जिसकी सेवा में लक्ष्मी और सरस्वती मानो हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं। ऐसा युवक नरेन्द्रनाथ युवा अवस्था में ही संसार के सुख और वैभवों की ओर से मुख मोड़कर कौपीनवन्त संन्यासी हो जाता है।

क्या कारण है इसका! इन सब मनीषियों तथा महापुरुषों ने समझ लिया था कि इन्द्रियों से मिलनेवाले सुख की अपेक्षा करोड़ोंगुना अधिक और चिरस्थायी सुख है, जिसे प्राप्त किया जा सकता है, जिसका अनुभव किया जा सकता है।

किन्तु यह अनुभूति इन्द्रियों के द्वारा नहीं होती। नहीं हो सकती। इसकी अनुभूति होती है वासनागन्ध रहित परम पवित्र मन से।

कई बार मन में सन्देह आता है कि क्या मन से ऐसे सुख की अनुभूति हो सकती है। और यदि हो सकती है, तो क्या वह लम्बे समय तक टिक सकती है? आइये अपने अनुभव से ही इस बात की परीक्षा करें।

हमें हमारी रुचि का सुस्वादु भोजन हम जितनी मात्रा में चाहें और जितने समय चाहें मिल रहा है। हम उस भोजन का सुख कितनी मात्रा में, कितनी देर तक ले सकते हैं? जब तक हमारा पेट न भरा हो। २० मिनट, आधे घण्टे और कितना? उससे अधिक नहीं। पेट भरने के पश्चात् यदि हम और अधिक खाना चाहेंगे, तो मितली आने लगेगी। जी ऊब जायेगा। स्थूल इन्द्रियों से मिलनेवाले सभी सुखों का यही हाल है।

किन्तु मान लीजिए कि हम अपनी रुचि का कोई सुन्दर भजन सुन रहे हैं। सुन्दर संगीत सुन रहे हैं, तो उसे हम घण्टों सुन सकते हैं। उतना ही नहीं, संगीत समाप्त होने के पश्चात् भी उसका स्मरण करके भी हम बहुत देर तक उसका आनन्द ले सकते हैं। और यदि कोई व्यक्ति संगीतज्ञ है, तो वह उस आनन्द में जीवन भर डूबा रह सकता है। यदि किसी व्यक्ति ने एक सुन्दर कविता पढ़ी या कोई सुन्दर-सा ग्रंथ पढ़ा, तो वह उस कविता या ग्रंथ के आनन्द में लम्बे समय तक डूबा रह सकता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थूल इन्द्रियों की तुलना में मन का आनन्द अधिक तीव्र और दीर्घस्थायी होता है। उसी प्रकार मन की तुलना में बौद्धिक आनन्द और अधिक गहन तथा दीर्घस्थायी होता है? गणितज्ञ अपने गणित के प्रश्नों को हल करने में जीवन बिता सकता है? वैसे ही दार्शनिक दर्शन के

जटिल प्रश्नों पर विचार करते, उन पर लिखते एक सूक्ष्म आनन्द में डूबा हुआ जीवन बिता देता है।

शारीरिक सुख की तुलना में मानसिक सुख अधिक स्थायी होता है, मानसिक सुख की तुलना में बौद्धिक सुख अधिक टिकता है, किन्तु इन सभी सुखों से अति श्रेष्ठ एक और सुख है, जिसका अनुभव हम प्रतिदिन करते हैं और वह सुख है निद्रा का सुख।

किसी व्यक्ति से यदि यह कहा जाय कि हम तुम्हें शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सुख तुम जितनी मात्रा में चाहो और जितने लम्बे समय तक चाहो, दे सकते हैं। किन्तु तुम्हें सोने नहीं दिया जायगा। तो क्या कोई भी व्यक्ति इसके लिए राजी होगा ? संसार का परम लम्पट व्यक्ति भी जब भोग से थक जाता है, तब वह सोना चाहता है। नींद के समय संसार का कोई भी भोग उसे आकर्षित नहीं कर पाता।

इस प्रकार हम पाते हैं कि हमारे जीवन का सर्वश्रेष्ठ सुख निद्रा का सुख है। निद्रा के सुख का अनुभव हमें किस इन्द्रिय से होता है ? ज्ञानेन्द्रियों से ? नहीं। जब तक ज्ञानेन्द्रियाँ सजग रहती हैं, हमें नींद नहीं आती। कर्मेन्द्रियों से नहीं। जब तक कर्मेन्द्रियाँ कर्मरत रहती हैं, हमें नींद नहीं आती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निद्रा का अनुभव इन्द्रियातीत अनुभव है। यह अनुभव उस द्रष्टा को होता है, जो स्वयं नहीं सोता।

किन्तु निद्रा की अनुभूति हमें अज्ञान की दशा में होती है। निद्रा की स्थिति यदि पूर्णतः जाग्रत रहकर प्राप्त की जा सके, तो उसी का नाम समाधि है। कठोपनिषद् में ऋषि इसी अवस्था का वर्णन करते हैं –

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्।। (१०.२.३)

– जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तथा बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, उस स्थिति को परमगति कहते हैं।

किन्तु यह स्थिति निद्रा से सर्वथा भिन्न है। इसमें व्यक्ति सर्वदा निर्वासना होकर पूर्ण सजग, सावधान और चैतन्य होकर दीर्घकाल कर गुरु के मार्गदर्शन में ध्यान का अभ्यास करता है, तब कहीं यह स्थिति प्राप्त होती है। यह स्थिति प्राप्त करने पर अज्ञान सदैव के लिए सर्वथा नष्ट हो जाता है। किन्तु निद्रा की स्थिति में अज्ञान पूर्णतः बना रहता है, इसीलिए जागने पर व्यक्ति उस आत्मसुख का अनुभव नहीं कर पाता तथा पुनः सांसारिक सुखों के पीछे दौड़ने लगता है।

पुण्यभूमि भारतवर्ष में वैदिक काल से आज तक सैकड़ों महापुरुष हो गये हैं, जिन्होंने इस स्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव किया था तथा हमारे लिए उस उच्चतम अनुभूति का मार्ग भी बता गये हैं।

अज्ञान का सर्वथा नाश कर इस प्रकार की अनुभूति प्राप्त करने पर क्या होता है ? मनुष्य को अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। उसे संसार के परम सत्य, जिसे उपनिषदों में ब्रह्म कहा है, का ज्ञान हो जाता है – **ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति** – ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। ब्रह्मज्ञान होने पर मनुष्य सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हो जाता है। उसके जीवन में कोई अभाव नहीं रह जाता। वह पूर्णकाम होकर सर्वथा तृप्त हो जाता है। उसके जीवन में दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है तथा वह परम-आनन्द की प्राप्ति कर लेता है। यही मानव-जीवन की सफलता है। यही जीवन की पूर्णता है।

मानव-जीवन का उद्देश्य या प्रयोजन यही है कि हम मृत्यु के पूर्व इस प्रकार की अनुभूति प्राप्त कर लें। इसे ही आत्मानुभूति, आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान कहा जाता है।

इस पूर्णता की अनुभूति या जीवन के प्रयोजन की सिद्धि केवल भौतिक और दैहिक आधार पर नहीं हो सकती। मनुष्य को देह तथा भौतिक सुखों से ऊपर उठना होगा। इसके लिए उसे अपने मन को दैहिक सुख-भोगों से हटाकर उच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों पर केन्द्रित करना होगा। मन को शुद्ध और पवित्र करना होगा। क्योंकि शुद्ध और पवित्र मन से ही यह परम ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। पवित्र और शुद्ध मन से ही आत्मानुभूति प्राप्त की जा सकती है।

आत्मनुभूति के बिना मनुष्य को परम शान्ति और सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। परम सुख और शान्ति प्राप्ति की इच्छा मनुष्य की मौलिक इच्छा है। उसे कुछ काल तक, कुछ जन्मों तक भले ही भुलाया जाय, दबाकर रखा जाय, किन्तु चिर काल के लिए उसका सर्वथा दमन नहीं किया जा सकता। किसी-न-किसी जन्म में एक-न-एक दिन मनुष्य सांसारिक सुखों से, इन्द्रियों के भोगों से अवश्य ही ऊब जायगा। सभी सुख उसे अलोने लगने लगेंगे और तब उसका मन सुख और शान्ति के लिए व्याकुल हो उठेगा।

प्रकृति लाखों-करोड़ों वर्षों तक मानवेत्तर सभी देहों के माध्यम से चैतन्य को प्रकाशित करने का, उसे अभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर देकर असफल हो गई। चैतन्य उन देहों में स्वयं को पूर्णतः अभिव्यक्त न कर सका। तब प्रकृति ने मानव देह की

रचना की और उस देह में भी 'मन' नामक तत्त्व की विशेष व्यवस्था की। इस मन के कारण ही विकास क्रम में एक अकल्पनीय आश्चर्यजनक क्रान्ति आई।

चैतन्य असीम और अनन्त है, अतः अपनी अभिव्यक्ति के लिए भी उसे एक असीम विराट् माध्यम की आवश्यकता थी। मानव देह में उसे मानव मन के रूप में वह माध्यम मिला। शरीर की तुलना में मन असीम और अनन्त है। आज तक विशाल देहों के माध्यम से जो चैतन्य स्वयं को अभिव्यक्त करने में असफल रहा, मानव देह में उसे अकस्मात मन नाम का एक ऐसा माध्यम मिला, जिसकी सहायता से शरीर की तुलना में उसने स्वयं को हजारों-लाखों गुना अधिक अभिव्यक्त करने में समर्थ पाया। उतना ही नहीं, उस चैतन्य ने यह अनुभव किया कि पूर्णतः शुद्ध मानव मन उस चैतन्य की अभिव्यक्ति और अनुभूति का पूर्ण समर्थ माध्यम है। उस चैतन्य ने यह अनुभव किया कि स्वयं उसे छोड़कर मन से बड़ी और कोई शक्ति नहीं है। यदि चैतन्य को छोड़ दिया जाय तो मन की कोई सीमा नहीं है, वह विश्व-ब्रह्माण्ड में असीम है। केवल आत्मा, ब्रह्म या चैतन्य ही मन की सीमा के बाहर है। अन्यथा शेष सभी मन की सीमा के भीतर ही हैं। विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ मन न जा सके।

ऐसे महान मन को प्रकृति ने मानव देह में रखा है। ऐसे विशाल और महा शक्तिशाली मन का अधिकारी होकर भी मनुष्य क्षुद्र पशुओं के समान जीवन बिता रहा है। ऐसी अनन्त शक्ति का उत्तराधिकारी होकर भी मनुष्य भिखारी के समान गली गली, घर घर भटक रहा है। धन, सम्पत्ति, पद, नाम, वैभव आदि पाने के बाद भी हाथ में भिक्षापात्र लिए दर दर भटक रहा है – हे शराब की बोतल, मुझे एक बूँद सुख दे दे! हे मांस और चमड़ी के स्पर्श! मुझे थोड़ी उत्तेजना दे दे, सुख दे दे। हे सुस्वादु भोजन! मुझे थोड़ा सुख दे दे। अपनी मर्यादा, प्रतिष्ठा और सम्मान को भी दाँव पर लगाकर क्षुद्र इन्द्रिय-सुखों के पीछे पीछे भिखारी के समान घूम रहा है। तथाकथित जनता पर शासन करनेवाले पदासीन शासक धन और रूप के पीछे भिखारी से भी बदतर होकर समाज में भटक रहे हैं।

क्या यह मनुष्यता है? इस दुर्लभ मानव-जीवन का क्या यही प्रयोजन है? पशु तो प्रकृति के नियमानुसार भोग करता है। प्रकृति उसे जैसा चलाती है, वैसा चलता है। किन्तु मनुष्य इन्द्रियों का दास और लम्पट होकर पशु से भी नीचे गिर जाता है। मनुष्य की देह इसलिए नहीं मिली है।

मनुष्य की देह इसलिए मिली है कि मनुष्य उन्नत-मस्तक होकर गर्व से कह सके कि मैं अपने शरीर और मन का स्वामी हूँ। मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई भी प्रलोभन मुझे लुब्ध नहीं कर सकता। संसार में कुछ भी भयभीत नहीं कर सकता। कोई भी विपत्ति मुझे विचलित नहीं कर सकती। कोई दुःख मुझे दुखी नहीं कर सकता।

मनुष्य के भीतर यह सामर्थ्य है। मनुष्य को अपनी इस शक्ति का स्मरण और अनुभव भर करना है। और इसी देह में मृत्यु के पूर्व उसका अनुभव कर लेना है। हजारों वर्ष पूर्व भगवान कृष्ण ने अर्जुन को माध्यम बनाकर संसार भर के लोगों को यह बात बताई कि तुम अजर, अमर और शाश्वत आत्मा हो। तुम देह नहीं हो। देह तो अनित्य है। तुम नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध आत्मा हो।

हमारे युग में युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा – प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है। इस अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति ही मानव-जीवन का प्रयोजन है। अन्तर और बाह्य प्रकृति का नियंत्रण कर इस ब्रह्म को व्यक्त करो।

सूत्र यह है कि हमारे भीतर ही वह ब्रह्म, आत्मा, चैतन्यशक्ति जो भी कह लीजिए, विराजमान है। हमें इस बात पर दृढ़तापूर्वक विश्वास करना चाहिएं। साथ-ही-साथ अपने स्वयं पर भी दृढ़ और अटूट विश्वास रखना चाहिए। आत्मविश्वास आत्मानुभूति का प्रथम सोपान है।

अपने अन्तःकरण में अव्यक्त रूप से अवस्थित इस ब्रह्म की अनुभूति कर उसे व्यक्त करना दैनन्दिन जीवन में उसे प्रकाशित करना – यही मानव-जीवन का प्रयोजन है।

इस प्रयोजन की सिद्धि कैसे हो ? स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है कि आन्तरिक और बाह्य प्रकृति के नियंत्रण द्वारा। यह नियंत्रण किसी भी मार्ग से किया जा सकता है। चाहे ज्ञान द्वारा, भक्ति द्वारा, कर्म के द्वारा, या अष्टांग योग आदि के द्वारा। किसी एक या एकाधिक उपायों द्वारा यह प्रयोजन सिद्ध हो सकता है।

किन्तु स्मरण रखना होगा कि केवल बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर आत्मानुभूति नहीं प्राप्त की जा सकती। उसके लिए मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त करना आवश्यक है। गत दो, ढाई सौ वर्षों में मनुष्य ने बाह्य प्रकृति पर आश्चर्यजनक विजय प्राप्त कर ली है। अब वह पक्षियों की भाँति हवा में उड़ सकता है। मछलियों के समान जल में तैर सकता है। वाष्प, विद्युत, अणुशक्ति आदि का स्वामी होकर मनुष्य बाह्य प्रकृति का मानो मालिक बन बैठा है। संचार-साधनों के द्वारा उसने मानो पृथ्वी की दूरी को जीत लिया है।

किन्तु बाह्य प्रकृति का स्वामी यह मनुष्य अपनी आन्तरिक प्रकृति का दास ही है। धन और तन का प्रलोभन उसे बन्दर की तरह नचा रहा है। ईर्ष्या और क्रोध से उसका अन्तःकरण धधक रहा है। वैभव और क्षमता के शिखर पर बैठकर भी उसका जीवन क्षुब्ध, अशान्त और असन्तुलित हो उठा है।

थोड़ी-सी सम्पत्ति का लोभ, पिता-पुत्र में, भाई-भाई में शत्रुता उत्पन्न कर देता है। थोड़ी-सी कड़ी बात, थोड़ा-सा मतभेद दाम्पत्य जीवन में विष घोल देता है।

अधिकांश व्यक्ति व्यर्थ की आशा-आकांक्षाओं, अनावश्यक, निरर्थक संग्रह-परिग्रह, पद-अधिकार प्राप्ति की इच्छा आदि से निरन्तर उद्विग्न, विक्षुब्ध और पीड़ित रहते हैं।

इन सभी के मूल में एक ही कारण है -- आन्तरिक प्रकृति पर नियंत्रण न होना। मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं रख पाता, इसीलिए वह सभी प्रकार के कष्ट पाता है।

बाह्य प्रकृति पर विजय पाना अच्छी बात है, किन्तु अन्तःप्रकृति पर विजय पाना उससे करोड़ोंगुना अच्छी बात है। क्योंकि जीवन तभी सुख-शान्तिमय होगा, जब हम अपनी आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे। जिस दिन हम अपनी आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्तकर पूर्णतः पवित्र और निःस्वार्थ हो जायेंगे, उसी दिन हमारे अन्तःकरण में सोया हुआ परमात्मा जाग उठेगा। हमारे हृदय का अव्यक्त ब्रह्म व्यक्त होकर प्रकाशित हो उठेगा। इसी जीवन में, इसी देह में हम मृत्यु को जीतकर मृत्युञ्जय हो जायेंगे। जीवनमुक्त हो जायेंगे।

यही मानव-जीवन का परम प्रयोजन है। इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। सावधान रहना चाहिए कि कहीं राग-रंग, आमोद-प्रमोद में ही इतना दुर्लभ मूल्यवान मनुष्य-जीवन व्यर्थ न हो जाय। सुअवसर चूक न जाय।

यदि हम दृढ़-संकल्प कर लें, तो आज इसी क्षण से हम जीवन के इस महान प्रयोजन की सिद्धि की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ कर सकते हैं। संसार के सभी धर्म जीवन के इस महान प्रयोजन की सिद्धि के उपाय हैं। संसार के महापुरुषों द्वारा बताये गये उपाय भी हमें वहीं ले जाते हैं। जैसी हमारी रुचि हो, जिसमें हमें सुविधा हो, उसके अनुसार साधना प्रारम्भ करें। परमात्मा हमारी सहायता करने को प्रस्तुत हैं।

❑ ❑ ❑

जगदगुरु श्रीरामकृष्ण

स्वामी विशुद्धानन्द

(रामकृष्ण संघ के अष्टम अध्यक्ष महाराज ने निम्नोक्त प्रवचन मालदह के रामकृष्ण आश्रम में ४ अप्रैल, १९५४ ई. को दिया था। 'सत्प्रसंग' नामक बंगला ग्रंथ से इसका अनुवाद किया है स्वामी ज्ञानातीतानन्द जी ने, जो सम्प्रति श्रीरामकृष्ण आश्रम, लिमड़ी में कार्यरत हैं।)

धर्म केवल अनुष्ठान की वस्तु नहीं, बल्कि रसास्वादन की चीज है। यह रसास्वादन ही हम सबको ईश्वर के मार्ग की ओर आकृष्ट करता है। अनुभूति यदि न हो, तो धर्म शुष्क बन जाता है। साधना यदि न हो, तो चारों वेदों तथा ढेर सारे शास्त्रों के द्वारा भी धर्म समझ में नहीं आता।

भगवान श्रीरामकृष्ण का जीवन इस अनुभूति का एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त है। सत्य के जितने भी पक्ष हैं, उन्होंने उस सभी को देख लिया था। ईश्वर के अनन्त भाव हैं; इसलिए उनके लिए साधनाएँ भी अनन्त हैं, उनकी प्राप्ति के मार्ग भी अनन्त हैं। श्रीरामकृष्ण की साधनाओं के अन्त में सभी सम्प्रदायों के लोग उनके पास आते और उनकी अनुभूति की बातें सुनकर विस्मय-विमुग्ध रह जाते। सत्य एक है, परन्तु ठाकुर की तरह इतने प्रकार के दर्शन तथा अनुभूतियाँ अन्य किसी को नहीं हुईं। ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन, उनके साथ बातचीत करना और घनिष्ठ रूप से उनके सम्पर्क में आने की बात अन्यत्र कहीं सुनने में नहीं आती। ईसाई तथा इस्लाम आदि धर्मों की साधनाएँ भी ठाकुर ने स्वयं की थी। सींथी के ब्राह्मसमाज में त्रैलोक्य, विजय आदि ब्राह्मभक्तों से उन्होंने कहा था, "ईश्वर को व्याकुल होकर ढूँढ़ने से उनका दर्शन होता है, उनके साथ बातचीत होती है, उसी प्रकार जैसे कि मैं तुम्हारे साथ बातें कर रहा हूँ। सच कहता हूँ, उनका दर्शन होता है।"

सनातन हिन्दू धर्म की मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा गुरुवाद में ब्राह्मसमाजियों का विश्वास नहीं था; इन सबके विरुद्ध उन लोगों ने खूब आन्दोलन किया और व्याख्यान दिये थे। फिर उन्हीं के नेतागण भवतारिणी के पुजारी (श्रीरामकृष्ण) के पास घण्टों बैठे उनके उपदेश सुना करते थे। उन दिनों केशवचन्द्र सेन, विजयकृष्ण गोस्वामी और शिवनाथ शास्त्री आदि के व्याख्यान सुनकर अनेक लोगों ने ब्राह्मसमाज की सदस्यता ग्रहण की थी।

ठाकुर के शिष्यों में से भी किसी किसी ने ब्रह्मसमाज के रजिस्टर में हस्ताक्षर किये थे। ब्राह्मसमाज के व्याख्यानों से युवकों के आकृष्ट होने के बावजूद, बहुत से ब्राह्मलोग अपनी शंका का निवारण करने को ठाकुर के पास आकर पूछते, "ईश्वर साकार हैं या निराकार?" ठाकुर कहते, "ईश्वर की कोई इति नहीं हो सकती। वे साकार है, निराकार हैं और भी न जाने क्या क्या हैं।"

श्रीरामकृष्ण के आगमन के पूर्व से ही ईश्वर के स्वरूप के विषय में एक तरह का द्वन्द्व चल रहा था। ईसाई मिशनरी और बाद में ब्राह्म प्रचारक इस विषय में सक्रिय हो उठे थे। सनातन हिन्दू धर्म की दशा उन दिनों शोचनीय थी। एकमात्र पण्डित शशधर तर्कचूड़ामणि ने ही शिक्षित लोगों के बीच किसी प्रकार इस धारा को जीवित रखा था। प्रत्येक सम्प्रदाय का यह दावा था कि केवल उसी का भाव सत्य है और बाकी सभी भाव मिथ्या हैं। विद्वान ईसाई मिशनरी अपने मनमोहक भाषणों में कहते कि हिन्दू लोग जो कुछ भी करते हैं, सब गलत है। इन्हीं सब कारणों से हिन्दू युवकों के मन में स्वधर्म के प्रति अनास्था आ गयी थी। ऐसे संकट के समय श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ। उन्होंने सनातन हिन्दू धर्म में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा करते हुए घोषणा की – जितने मत, उतने पथ। उनकी साधनाओं तथा उपदेशों से यह एक बहुत बड़ा विवाद सदा के लिए शान्त हो गया। यही उनकी सर्वोच्च देन है। वर्तमान काल में धर्मजगत के भावों में जो विपुल परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, श्रीरामकृष्ण की साधनाएँ तथा अनुभूतियाँ ही उनके मूल में निहित हैं।

ठाकुर ने हाथी का दृष्टान्त दिया है। कुछ अन्धे लोग एक हाथी के पास जा पहुँचे। किसी ने उन्हें बताया कि इसे हाथी कहते हैं। उन लोगों ने हाथी के हाथ-पाँव छूकर देखे। उनमें से एक बोला, "यह खम्भे के समान है।" उसने केवल हाथी के पाँव का स्पर्श किया था। दूसरे ने कहा, "यह सूप के जैसा है।" उसने हाथी का केवल कान ही स्पर्श किया था। फिर जिन लोगों ने हाथी की सूँड़ या पूँछ पर हाथ रखा था, वे लोग अन्य प्रकार से उसका वर्णन करने लगे।

इसी प्रकार ईश्वर के विषय में जिसने जितना ज्ञान प्राप्त किया था, जिसकी जैसी अनुभूति थी, उसने सोचा कि ईश्वर इतना ही है और अन्य किसी प्रकार का नहीं हो सकता। ठाकुर ने पूरे हाथी को देखा, सम्पूर्ण का साक्षात् किया; इसलिए वे उसे ब्राह्म लोगों के लिए ब्राह्मभाव में, शाक्त लोगों के लिए शाक्तभाव में और वैष्णवों के लिए वैष्णवभाव में रंजित कर देते थे। चाहे जिस भी भाव का व्यक्ति ठाकुर के पास

आता, वे उसे उसी के भाव में रंजित कर देते। इसीलिए वे जगद्गुरु हैं।

मद्रास में एक बड़े पण्डित के साथ भेंट हुई। वे बोले, "ठाकुर की बातें सिर को पार करके मानो सीधे हृदय में प्रविष्ट हो जाती हैं, इसीलिए उन्हें नतमस्तक होकर स्वीकार कर लेना पड़ता है, विचार कर समझने की आवश्यकता नहीं होती।"

स्वामी विवेकानन्द पहले ब्राह्मसमाज के सदस्य थे। वे स्वयं भी कोई साधारण साधक नहीं थे। वे महर्षि देवेन्द्रनाथ के पास गये। महर्षि को न जाने कितनी अनुभूतियाँ हुई थीं, परन्तु जब नरेन्द्रनाथ ने उनसे पूछा, "क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" तो महर्षि टाल गये। एकमात्र ठाकुर ने ही उन्हें उत्तर दिया, "हाँ, देखा है। जैसा तुझे देख रहा हूँ न, उससे भी स्पष्ट रूप से उन्हें देखा है।"

ठाकुर ने देखा कि ईश्वर जगत में ओतप्रोत हैं। इस दर्शन के बाद उन्होंने जगदम्बा की वाणी सुनी, "तेरे अनेक भक्त आयेंगे।" इसीलिए वे आरती के समय कोठी के छत से रो-रोकर पुकारते, "अरे, भक्तो, तुम लोग कहाँ हो, आओ।" उनकी वह पुकार अभी भी बन्द नहीं हुई है। उनकी पुकार सुनकर देश-विदेश से कितने ही लोग चले आ रहे हैं। भागवत में है कि श्रीकृष्ण की बाँसुरी सुनकर गोपिकाएँ दौड़ी चली आती थीं। वैष्णव शास्त्र में है –

लीला वही नित्य किया करते हैं चैतन्य। भाग्यवान कोई उसे देख होता धन्य ॥

ठाकुर ने कहा है, "जिनका यह अन्तिम जन्म है, वे यहाँ (मेरे पास) आयेंगे।" जिन लोगों ने मन-मुख एक करके व्याकुल भाव से ईश्वर को पुकारा है, वे आयेंगे। जगदम्बा ने उनसे कहा था, "तू भावमुख में रह।" भावमुख का अर्थ – अन्तर्जगत तथा बहिर्जगत के बीच का स्थान है। ठाकुर का जीवन मानो घड़ी के दोलक के समान है। उनका नित्य से लीला और लीला से नित्य में आवागमन होता रहता था।

तंत्र-साधना के समय उन्होंने भैरवी ब्राह्मणी का और वेदान्त-साधना के समय तोतापुरी का शिष्यत्व ग्रहण किया था। वेदान्त की चरम साधनाएँ, जिन्हें पूरा करने में उनके गुरु को सुदीर्घ चालीस साल लगे थे, उन्हें उन्होंने केवल तीन दिनों में पूरा कर लिया था। भैरवी अद्वैत नहीं मानती थीं और तोतापुरी अरूप का ध्यान किया करते थे तथा उन्हें केवल अरूप की ही अनुभूति हुई थी। भैरवी और तोतापुरी में जहाँ जितनी अपूर्णता थी, ठाकुर ने उनमें उसे पूरा करके उन्हें धन्य किया था।

ठाकुर के प्रत्यक्ष दर्शन के समक्ष सभी चुप रह जाते थे। किसी ने काशी की बात किताब में पढ़ी है और किसी ने काशी देखा है – इन दोनों में काफ़ी भेद है।

ठाकुर ने कहा, "दया नहीं, परोपकार नहीं, सर्वभूतों में हरि विद्यमान हैं, उन्हीं की सेवा। इस सेवा के मूल में यदि नाम-यश तथा पत्युपकार की आशा या स्वर्ग-कामना न हो, तभी यह गीता का निष्काम कर्म हुआ।" वैष्णव शास्त्र में 'जीवदया' की बात है; ठाकुर ने 'दया' को उड़ा दिया। उन्होंने और भी ऊपर से देखा था न!

ठाकुर के जीवन में और भी एक अपूर्व वस्तु हमें देखने को मिलती है – उनका विवाह। भगवान बुद्ध तथा चैतन्य महाप्रभु अपनी सहधर्मिणी को त्यागकर चले गये थे, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने ऐसा नहीं किया।

स्वामीजी ने पाँच-छह वर्षों तक हर प्रकार से उन्हें ठोक-बजाकर देख लिया था। एक दिन उन्होंने छिपाकर एक रुपये का सिक्का उनके बिस्तर के नीचे रख दिया था। उस बिस्तर पर बैठते ही ठाकुर मानो बिच्छू से दंशित के समान छटपटाने लगे। तब स्वामीजी ने उनके दोनों पाँव पकड़कर क्षमा माँगी थी।

पंचवटी के नीचे गंगा-तट पर बैठकर ठाकुर ने 'रुपया मिट्टी, मिट्टी रुपया' विचार करके दोनों को गंगा के जल में फेंक दिया था। तात्पर्य यह है कि विषयों की आकांक्षा, भोग-वासना का त्याग और निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेना चाहिए।

भोग-वासना ने ही मनुष्य को संसार में आबद्ध कर रखा है। उपनिषद् के ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा था कि भोगों के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस युग में ठाकुर पुनः उसी अमृतत्व का पथ दिखा गये हैं। त्याग ही हमारा आदर्श है – **त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**। हम लोग दोनों में compromise (समझौता, मेल) कराने का प्रयास करते हैं, परन्तु उससे काम नहीं होता। नचिकेता ने भोग के पथ का निषेध करके मानव-कल्याण हेतु सूक्ष्म आत्मतत्त्व को जान लिया था। फिर इस उन्नीसवीं सदी में भवतारिणी (काली) के पुजारी (श्रीरामकृष्ण) 'रुपया-मिट्टी' की साधना करके इस त्याग की महिमा दिखा गये हैं। इस प्रकार वे गीता, बाइबिल आदि के धर्मों में प्राणप्रतिष्ठा कर गये हैं। ठाकुर त्यागीश्वर हैं और उनके प्रत्येक शिष्य का जीवन भी त्याग का एक एक ज्वलन्त दृष्टान्त है।

ईश्वरी सत्ता से ही हम लोग टिके हुए हैं। वे हमारे इतने निकट, इतने पास हैं और हम ऐसे हैं कि अपना सारा स्नेह-प्रेम अन्यत्र बिखेरे बैठे हैं! इस बिखरे हुए स्नेह-प्रेम को विषयों से खींचकर अन्तर्मुखी – ईश्वरमुखी करना होगा। जगद्गुरु श्रीरामकृष्ण ने इस युग में अपने जीवन तथा साधनाओं के द्वारा यही शिक्षा दी है।

❑ ❑ ❑

स्वामी ब्रह्मानन्द की स्मृतियाँ

एक शिष्य

(श्रीरामकृष्ण देव के प्रमुख शिष्य तथा रामकृष्ण संघ के प्रथम परमाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी के सम्बन्ध में संकलित ये संस्मरण हमारे हालीवुड (अमेरिका) केन्द्र से प्रकाशित होनेवाली अँग्रेजी 'वेदान्त एण्ड द वेस्ट' पत्रिका के मार्च-अप्रैल १९६० के अंक में प्रकाशित हुए थे, वहीं से हम इसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं०)

जब मैं कोई आठ या नौ वर्ष का था, तभी मेरे एक सम्बन्धी ने मुझे श्रीरामकृष्ण की एक छोटी-सी जीवनी पढ़ने को दी। यद्यपि मैं उसकी कुछ बातें समझ नहीं सका था, तथापि उस पुस्तक ने मेरे मन को बड़ा प्रभावित किया। बाद में 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ में मैंने पढ़ा कि श्रीरामकृष्ण नरेन, राखाल तथा कुछ अन्य युवकों का 'नित्यसिद्ध' के रूप में उल्लेख करते हैं। मुझे मालूम नहीं था कि इन शब्दों का क्या अर्थ है, तथापि मैं इतना अवश्य समझ गया कि श्रीरामकृष्ण जिन शिष्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग करते थे, वे लोग आध्यात्मिक दृष्टि से काफ़ी उन्नत होंगे और एक अलग ही श्रेणी में रखे जायेंगे।

ज्यों ज्यों मैं बड़ा होने लगा, श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के विषय में जो कुछ भी मिला, उसे पढ़ता रहा और जब कॉलेज की पढ़ाई के लिए कलकत्ता पहुँचा, तो अवसर मिलते ही मैं उद्बोधन तथा दक्षिणेश्वर जाने लगा। उन दिनों कलकत्ते से बेलूड़ मठ आना-जाना बड़ा ही कठिन था, अतः मैं प्रायः उद्बोधन कार्यालय ही जाया करता था। वहाँ मेरी एक स्वामीजी के साथ जान-पहचान हो गयी, जो मुझे स्वामी तुरीयानन्द के पास ले गये। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में सर्वप्रथम मैंने उन्हीं का दर्शन किया था।

तुरीयानन्दजी को मैंने रामकृष्ण संघ में सम्मिलित होने की अपनी इच्छा बतायी, परन्तु वे बोले, "नहीं, अभी नहीं। पहले अपनी पढ़ाई पूरी कर लो। जब तुमने एक कार्य हाथ में लिया है, तो पहले उसी को समाप्त कर डालो।" इसके बाद कई दिनों तक उनके साथ मेरी जोरदार बहस होती रही।

मैं प्रायः प्रतिदिन ही और कभी कभी सुबह-शाम दोनों समय तुरीयानन्दजी से मिलने जाया करता था। मैं जानता था कि वे एक महापुरुष हैं, परन्तु मुझे यह बोध नहीं हो सका था कि उनके चरणों में बैठकर उनकी वाणी का श्रवण करना मात्र ही

मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है। अतः अपनी मूर्खता की झोंक में मैं सर्वदा ही उनके साथ तर्क-वितर्क में लगा रहता था और अब मैं इसके लिए अत्यन्त शर्मिन्दा हूँ। सम्भव है कि उन्होंने जान-बूझकर ही मुझे तर्क-वितर्क करने का मौका दिया हो, क्योंकि उनमें इच्छा मात्र से ही मुझे चुप कर देने क्षमता थी।

तुरीयानन्दजी के साथ वाद-विवाद करते रहने से एक लाभ तो यह हुआ कि उनके साथ मेरी बड़ी घनिष्ठता हो गयी। शास्त्रों में लिखा है कि सत्पुरुषों का क्षण भर के लिए भी संग होना, महान आध्यात्मिक उपलब्धियों का मूल है। एक दिन ऐसे ही बहस करते समय उन्होंने कहा, "तुम महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के पास क्यों नहीं जाते ? पर जान रखना, उनके साथ ऐसा तर्क-वितर्क नहीं चलेगा। तब तक मैं तुरीयानन्द जी के साथ खूब घुल-मिल चुका था और मुझे अपने लिए इतना ही यथेष्ट लगता था, अतः उन दिनों मैं किसी और के पास जाने की मनःस्थिति में नहीं था। एक दिन उन्होंने मुझे बताया, "एक समय था, जब मैं किसी भी व्यक्ति का अन्तर काँच की आलमारी के समान देख पाता था।" जीवन में पहली बार मैंने किसी के मुख से एक ऐसी बात सुनी और मैं उस पर अविश्वास नहीं कर सका।

कॉलेज के आगामी सत्र में मुझे एक छात्रावास में रहना पड़ा, जहाँ दो अन्य अन्तेवासी भी महाराज के शिष्य थे। उनके कुछ मित्र भी माताजी तथा महाराज के कृपापात्र थे। इस प्रकार विचारों तथा आदर्शों का मेल होने के कारण आपस में लगाव रखनेवाले हम विद्यार्थियों का एक अलग दल ही गढ़ उठा और हम प्रायः ही आपस में मिलते रहते थे। महाराज से मिलने कभी कभी हम लोग बेलूड़ मठ और प्रायः कलकत्ते के बलराम मन्दिर जाया करते थे। इस प्रकार महाराज के साथ मेरी व्यक्तिगत रूप से जान-पहचान हो गयी थी।

महाराज जहाँ कहीं भी निवास करते, लोग झुण्ड-के-झुण्ड उनका दर्शन करने आते और उन्हें प्रणाम करने के लिए हमें काफ़ी काल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती। इन आगन्तुकों में वयस्क तथा तरुण संन्यासी और पुराने तथा नये भक्त भी थे। हम लोग अभी छोटे थे, अतः दूसरे लोगों का दर्शन हो जाने तक हमें प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। परन्तु एक बार जब हम महाराज के सान्निध्य में पहुँच जाते, तो लगता कि अपने इन्तजार का हमें उचित से भी कहीं अधिक फल प्राप्त हो गया है।

धीरे धीरे मेरे मन में महाराज से दीक्षा पाने की इच्छा जागने लगी। मुझे पता चला कि वे इसके लिए सहज ही राजी नहीं होते। ऐसे भी उदारहण मिले कि लोगों

को दीक्षा के लिए वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ी थी और किसी किसी को तो इसका सौभाग्य भी नहीं हो सका था। तथापि मैं उनसे दीक्षा पाने को तुला हुआ था। और इस हेतु अनुरोध करने के लिए चूँकि महाराज को अकेले में पाना कठिन था, अतः मैंने एक योजना बनायी। गर्मी का मौसम होने के कारण उन दिनों लोग प्रायः शाम को ठण्डक हो जाने पर ही महाराज से मिलने आते थे और दोपहर में उनके पास किसी के आने की सम्भावना नहीं थी। अतः एक दिन तपती दुपहरी में ही मैं बलराम मन्दिर को चल पड़ा। ट्राम के अड्डे से उस मकान तक का रास्ता बड़ा कष्टदायी था। वहाँ पहुँचकर मैं लम्बी प्रतीक्षा के लिए तैयार होकर एक बेंच पर आसीन हो गया। परन्तु चन्द मिनट बाद ही महाराज के द्वार खुले और वे बाहर आये। वे मुझे देखकर विस्मित से हुए और कहने लगे, "अरे, तुम यहाँ हो ! क्या चाहते हो तुम ?"

मैंने सहमकर उत्तर दिया, "महाराज, मैं आपसे कुछ बातें करना चाहता हूँ।"

उन्होंने मुझे इन्तजार करने को कहा। थोड़ी देर बाद वे मुझे साथ लेकर उस बड़े हॉल में गये, जहाँ श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में उनकी अनेक लीलाएँ हो चुकी थीं। महाराज और उनके साथ ही मैं भी वहाँ टहलने लगा। धड़कते हृदय के साथ मैंने उनके समक्ष अपनी दीक्षा की आकांक्षा व्यक्त की और यह देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना तत्काल स्वीकार कर ली। यही प्रथम अवसर था, जबकि मैंने उनके साथ व्यक्तिगत रूप से बात की थी और उनकी उपस्थिति में अपने आपको पूर्णतः निःसंकोच महसूस किया था। उनका व्यवहार इतना स्नेहमय था कि मेरा सारा भय तथा संकोच न जाने कहाँ चला गया। ऐसा लगा मानो काफ़ी अर्से से उनके साथ मेरी आत्मीयता रही हो।

कुछ सप्ताह बाद मैं फिर आकर उसी हॉल में उनसे मिला, हम फिर वहीं टहले और पुनः कुछ वैसी ही घटना हुई। ऐसे समय महाराज मानो आध्यात्मिकता के शिखर से मेरे ही स्तर पर उतर आते और मुझे लगता कि मैं उनके साथ किसी भी विषय पर निःसंकोच वार्तालाप कर सकता हूँ।

इस द्वितीय अवसर पर उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, क... कहता है कि मुझे (मिशन के किसी कार्यवश) पंजीकरण कार्यालय में जाना होगा। ये लोग मुझे चैन से जप-ध्यान भी नहीं करने देते।" मुझे आश्चर्य हुआ कि महाराज ये बातें मुझसे क्यों कह रहे हैं। कोई सपने में भी नहीं सोच सकता था कि उन्हें अब भी साधना की आवश्यकता है। तथापि उन्होंने यह बात मुझे इतनी स्वाभाविकता के

साथ कही, मानो मैं उनका एक विश्वस्त मित्र होऊँ और तब भी मैं अल्पवयस्क तथा नव-परिचित ही था।

सम्भवतः पहली बार मिलने पर उन्होंने मेरे समक्ष अपने मन का खेद व्यक्त करते हुए कहा था, "देखो, बहुत से लोग यहाँ आकर अनुनयपूर्वक दीक्षा ले जाते हैं, परन्तु लौटकर कुछ भी नहीं करते और इस कारण मुझे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है।" यह सुनते ही मैंने वचन दिया कि मैं कदापि उनके लिए कष्ट का कारण नहीं बनूँगा। (यह काफ़ी पुरानी बात है, परन्तु अब जब मैं इस घटना का स्मरण करता हूँ, तो लगता है कि क्या मैं सचमुच ही अपना वह वचन निभा सका!) महाराज मुझे दीक्षा देने को सहमत तो हुए, परन्तु बोले, "यह मौसम उपयुक्त नहीं है। तुम अक्तूबर में आना, मैं तुम्हारी दीक्षा के लिए एक अच्छा दिन निर्धारित कर दूँगा।"

यहीं से मेरी समस्याओं का सूत्रपात हुआ। अक्तूबर का महीना आया और मैंने उनसे अकेले में मिलने का प्रयास किया, पर यह आसान नहीं था। जब कभी मैं उनसे मिलने को जाता, तो कोई-न-कोई उनके पास रहता, या वे कहते, "आज मेरी तबीयत ठीक नहीं है।" ऐसे में उनके साथ कोई गम्भीर चर्चा सम्भव न थी।

ज्यों ज्यों दिन बीतते गये, त्यों त्यों दीक्षा पाने के लिए मेरी उद्विग्नता भी बढ़ती गयी। मुझे चिन्ता हुई कि यदि कहीं किसी कारणवश वे बंगाल के बाहर गये, तो फिर उनके लौटने में काफ़ी दिन लग सकते हैं। और यदि वे ऐसे समय लौटे, जब मैं कलकत्ते से बाहर रहूँ, तो मौका पूरी तौर से निकल जायगा। मैं पहले के ही समान अन्य लोगों के साथ महाराज के दर्शन करने जाता, परन्तु उन्हें अपनी दीक्षा की तिथि निर्धारित करने की बात याद दिलाने को अकेले में मिलने का अवसर ही नहीं मिलता। कभी कभी तो मैं मन-ही-मन अधीर हो उठता। एक मित्र ने मुझे सावधान करते हुए कहा, "ऐसा मत सोचना, नहीं तो तुम्हें और भी लम्बे समय तक इन्तजार करना पड़ सकता है। अ... ने भी अधीरता दिखायी थी, तो उसे बारह साल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।"

लगता है महाराज को मेरी मानसिक अशान्ति का पता था, क्योंकि उन्होंने कुछ छोटी-मोटी घटनाओं के दौरान इस ओर इंगित भी किया था। एक दिन बेलूड़ मठ में हम कुछ विद्यार्थी बाल्टियों में जल लाकर मठ-भवन के दूसरे छोर पर रखे हौज को भर रहे थे। महाराज दूसरी मंजिल पर स्थित अपने कमरे के बरामदे में खड़े गंगादर्शन कर रहे थे। वैसे तो वे ऊपर खड़े होकर नीचे लान में किसी के साथ बातें

नहीं करते थे, परन्तु मेरे काफी दूर होने के बावजूद उन्होंने वहीं से पुकारकर कहा, "क्यों, कैसे हो ? तुमने जलपान किया या नहीं ?" ऐसी पूछताछ कोई खास महत्व की न थी, परन्तु इसके फलस्वरूप मेरा मन क्षण भर में ही शान्त हो गया। मुझे महसूस हुआ कि उनके पूछने में शब्दार्थ से कहीं अधिक गूढ़ार्थ निहित है।

महाराज के साथ परिचय होने के प्रारम्भिक दिनों की बात है। एक दिन संध्या के समय मैं बड़ी ही अशान्त मनःस्थिति में उनके दर्शन को गया था। वे अपने बिस्तर पर बैठे ध्यान कर रहे थे। कई अन्य संन्यासी तथा भक्त भी उसी छोटे-से कमरे में नीचे फर्श पर बैठकर ध्यान कर रहे थे। मुझे भी बैठने को थोड़ी-सी जगह मिल गयी। थोड़ी देर बाद एक एक कर सभी चले गये।

महाराज ने मुझसे पूछा, "क्या चाहते हो ?" मैं बोला, "महाराज, जब आप जैसे लोग ईश्वर के बारे में बोलते हैं तो अविश्वास नहीं किया जा सकता, परन्तु हमें सहज भक्ति की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? इसके लिए हम क्या करें ?" मैंने सोचा था कि ऐसे प्रश्न पर महाराज कहीं खीझ न उठें, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। उन्होंने बड़े स्नेह तथा सहानुभूति के साथ मेरी ओर देखा और इतने मात्र से ही मेरी आधी समस्याओं का समाधान हो गया। तदुपरान्त वे कहने लगे, "देखो, धर्म सर्वाधिक व्याहारिक वस्तु है। साधना करने पर फल अवश्यम्भावी है। यदि कोई यंत्रवत करते हुए भी निष्ठापूर्वक लगा रहे, तो समय आने पर उसे सब प्राप्त हो जायगा।"

मैं मौन रह गया और मेरा चित्त भी शान्त हो गया। मुझे तुरीयानन्दजी की वह उक्ति याद हो आयी कि महाराज के साथ कोई तर्क-वितर्क नहीं चलेगा। उनका कथन सौ फीसदी सही था। मैंने पाया कि महाराज के समक्ष युक्ति-तर्क व्यर्थ हैं।

इस प्रकार महाराज ने मेरे मन में यह भाव दृढ़तापूर्वक अंकित कर दिया कि साधना की अतीव आवश्यकता है। फिर वे बोले, "यदि तुम ईश्वर की ओर एक कदम आगे बढ़ते हो, तो वे तुम्हारी ओर लाख कदम आते हैं।" यह तो मेरे लिए बड़े ही विस्मय की बात थी। क्षण भर में ही मैंने हिसाब लगा लिया कि यदि मेरे एक कदम ईश्वर की ओर चलने पर वे एक कदम भी मेरी ओर आयें, तो भी यह एक बड़ी बात होगी और फिर लाख कदम का तो कहना ही क्या ! यह तो कुछ ऐसा ही हुआ मानो एक भिखारी अचानक ही लखपति बन गया हो। मेरे आनन्द की सीमा न रही।

देरी हो रही थी, इस कारण महाराज ने मुझे घर जाने को कहा। परन्तु मेरे विदा लेने के पूर्व उन्होंने मुझे आश्वस्त किया कि वे मुझे साधना-सम्बन्धी निर्देश देंगे और

इसके लिए उन्होंने मुझे किसी उपयुक्त दिन आने को कहा।

इसीलिए एक दिन बड़े सबेरे ही मैं महाराज से मिलने गया, क्योंकि उस समय शायद ही कोई उनसे मिलने आता था। उनके कमरे के द्वार खुले थे और वे पिछली बार के समान ही अपने बिस्तर पर बैठे ध्यानमग्न थे। कुछ अन्य संन्यासी भी उस कमरे में बैठकर ध्यान कर रहे थे। सबके चले जाने पर महाराज ने मेरे आने का कारण पूछा। मैंने बताया, "आपके निर्देशानुसार ही आया हूँ।" वे थोड़ी देर तक ध्यान करते रहे, फिर मुझे इन्तजार करने को कहकर बरामदे में चले गये। मैंने क़ाफी देर तक प्रतीक्षा की, फिर देखा कि अब और ठहरने से कॉलेज छूट जाने का भय है। परन्तु चूँकि महाराज मुझे प्रतीक्षा करने को कह गये थे, अतः मेरी वहाँ से उठने की इच्छा नहीं हुई। बड़ी देर तक सोच-विचार करने के बाद मैंने बगल के कमरे में झाँककर देखा, तो महाराज वहाँ बैठे समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी और वे बोले, "मैं शीघ्र आ रहा हूँ।" मैं इस घटना का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि मुझे कितने ही बार इस बात के लिए पछतावा हुआ है कि महाराज के प्रतीक्षा करने को कहने के बावजूद मैं उनकी तलाश में क्यों गया! प्रतीक्षा में बैठाने का शायद उनका कोई खास मकसद रहा हो।

महाराज के आने पर मैंने उन्हें बताया कि मुझे ईश्वर के प्रति सहज श्रद्धा-भक्ति का अभावबोध होता है और इसी कारण मैं उनका मार्गदर्शन चाहता हूँ। उन्होंने मुझे साधना-विषयक कुछ निर्देश दिये और कुछ दिनों तक उन्हें पालन करने को कहा। उस दिन उन्होंने मुझे यह भी बताया कि यदि कोई दो, तीन, पाँच या अधिक-से-अधिक बारह वर्ष तक साधना करे, तो फल अवश्यम्भावी है। मैंने विदा ली। मेरे हर बार विदा लेते समय महाराज निश्चित रूप से कहते, "जितनी बार भी हो सके, आते रहना।" या फिर कहते, "अपनी सुविधानुसार बीच बीच में आते रहना।"

महाराज मुझे ध्यान-सम्बन्धी प्राथमिक निर्देश दे चुके थे, परन्तु वास्तविक दीक्षा के लिए मुझे अभी और प्रतीक्षा करनी थी। अतः मैं सदा मन-ही-मन चिन्तित रहा करता था। एक बीमारी के पश्चात मैं छात्रावास के अपने कमरे में रहकर आरोग्य-लाभ कर रहा था। एक दिन दो मित्र मुझसे मिलने के लिए आ गये। उनमें से एक को महाराज अगले दिन दीक्षा प्रदान करनेवाले थे। मैंने सोचा, "क्या मेरे लिए भी कोई सम्भावना है ? या फिर यह अवसर भी हाथ से निकल जायगा ?" शारीरिक रूप से दुर्बल होने के बावजूद मैं उन लोगों के साथ बेलूड़ मठ गया, परन्तु उस दिन संध्या को मैं महाराज से नहीं मिल सका।

अगले दिन प्रातःकाल मैं पुनः मठ गया। महाराज बरामदे में बैठे थे। मैं उनके साथ चर्चा करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनका ध्यान मेरी ओर उन्मुख हुआ और वे बोले, "तुम वहाँ बैठे क्या कर रहे हो? जाओ गंगा में स्नान कर आओ।" क्या यह इस बात की ओर संकेत था कि आज वे मुझे दीक्षा देंगे? मुझे तो ऐसा ही लग रहा था, परन्तु निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता था। मैं भी उन तीन लोगों के साथ हो लिया, जिन्हें दीक्षा की पक्की अनुमति मिल चुकी थी। परन्तु मैं अन्तिम क्षणों तक दुविधा में ही पड़ा रहा। तदुपरान्त महाराज की कृपा से मुझे मेरी मनोवांछित वस्तु प्राप्त हुई।

महाराज जब सहज भाव से मुझे दीक्षा देने को राजी हुए थे और जब मुझे वास्तविक रूप से इसकी प्राप्ति हुई, इसके बीच के मेरे दो माह इतनी मानसिक अशान्ति तथा अनिश्चितता में बीते थे, मानो पूरा एक वर्ष बीत गया हो। सम्भव है कि महाराज ने मेरी व्याकुलता को बढ़ाने के लिए या फिर मेरी निष्ठा को परखने के लिए ही जान-बूझकर इस भयानक मानसिक तनाव के बीच रखा हो। मेरे अन्य मित्रों के अनुभव से भी मेरे इसी विचार की पुष्टि हुई कि महाराज के प्रत्येक वाक्य तथा कार्य के पीछे आभासमान से कहीं अधिक गूढ़ उद्देश्य निहित है।

महाराज के बेलूड़ मठ निवासकाल में मैंने वहाँ दुर्गापूजा देखी। तीन दिनों की पूजा के दौरान एक दिन मैंने महाराज को संध्या-आरती में बैठे देखा। अनेक संन्यासी तथा भक्त उपस्थित थे और आरती के समय सभी मौन खड़े थे। आरती के बाद विग्रह को चँवर डुलाने की प्रथा है। महाराज स्वयं ही भक्ति तथा शान्तिपूर्वक काफी काल तक चँवर डुलाते रहे। वह एक देवदुर्लभ दृश्य था। मूर्तिपूजा के बारे में एक अभिनव अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करने को ऐसा एक ही दृश्य पर्याप्त था।

इसके उपरान्त महाराज दक्षिण भारत की यात्रा पर चले गये और १९२१ ई. के अन्त में वहाँ से लौटकर भुवनेश्वर आये। वहाँ उनकी व्यक्तिगत देख-रेख में एक मठ का निर्माण हुआ था। दिसम्बर के मध्य में मैं भुवनेश्वर जाते हुए कलकत्ते में ठहरा। भुवनेश्वर पहुँचकर महाराज के सान्निध्य में मेरी क्रिसमस सप्ताह मनाने की इच्छा थी। कलकत्ते में एक वरिष्ठ संन्यासी ने मुझसे पूछा, "क्या तुमने उनसे अनुमति प्राप्त कर ली है। बिना पूर्वसूचना के किसी का भुवनेश्वर जाना महाराज को पसन्द नहीं है।" मैंने महाराज को अनुमति के लिए तो नहीं लिखा था, परन्तु मैं उनके दर्शन करने का दृढ़ निश्चय कर चुका था। मैंने सोचा कि आवश्यकता हुई तो आश्रम के बाहर भी ठहर सकता हूँ, परन्तु जाऊँगा अवश्य। भुवनेश्वर पहुँचने पर महाराज ने मेरे

बिना-अनुमति आने के विषय में जरा भी नाराजगी नहीं दिखायी। उनके सान्निध्य में रहते हुए मेरे चार-पाँच दिन बड़े ही आनन्द में बीते। उन दिनों वहाँ कटक से भी कुछ अतिथि आये हुए थे। महाराज उनकी सुविधा में व्यक्तिगत रूप से रुचि ले रहे थे। प्रतिदिन प्रातः और सायं जब महाराज मठ के चारों ओर फैले खुले मैदान में टहलने को निकलते, तो मैं भी उनके साथ हो लेता। बाकी समय विशेषकर जब महाराज मौन रहते, तो उनके पास पहुँचने का साहस जुटा पाना कठिन लगता था, परन्तु टहलते समय वे बड़े अलग भाव में रहते तथा खुलकर वार्तालाप करते थे। दो-तीन अन्य भक्त भी साथ हो लेते।

एक दिन बड़े सबेरे सूर्योदय के पूर्व ही मैं महाराज के कमरे में गया। उस समय वहाँ वे अकेले थे। मुझे भय हो रहा था कि कहीं मैं उन्हें डिस्टर्ब तो नहीं कर रहा हूँ। परन्तु उनकी ओर से ऐसा कोई संकेत नहीं मिला। वे बड़े ही उदार मनःस्थिति में थे। मैंने उनसे दो-एक प्रश्न किये, फिर कहने लगा, "सुना है कि आपने वाराणसी में कुछ संन्यासियों से कहा है कि यदि कोई तीन वर्ष तक साधना करता रहे, तो उसे कुछ उपलब्धि होना अवश्यम्भावी है। मैं यथासम्भव आपके निर्देश पालन करने का प्रयास कर रहा हूँ, परन्तु लगता नहीं कि मुझे कुछ लाभ हो रहा हो। लेकिन यह बात अवश्य है कि मैं आपके निर्देशों का यांत्रिक रूप से ही पालन कर पाता हूँ। प्रयास करना मात्र ही तो मेरे हाथों में है, परन्तु यदि उचित एकाग्रता न हो तो मैं क्या कर सकता हूँ?" महाराज ने इस पर थोड़ी भी नाराजगी नहीं दिखाई और मुझे एक ऐसा उत्तर दिया, जिसने मेरा हृदय शान्त कर दिया और भविष्य के लिए मार्गदर्शन के रूप में भी वह बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ।

मेरे भुवनेश्वर-प्रवास के दौरान मठ में 'क्रिसमस-संध्या' मनायी गयी। इस अवसर पर ईसा मसीह का पूजन, बाइबिल से पाठ तथा भजन हुए। महाराज ने भी यह उत्सव देखा। ऐसे अवसरों पर उनकी उपस्थिति मात्र से ही एक ऐसे अविस्मरणीय वातावरण की सृष्टि हो जाती थी, जो समारोह में भाग लेनेवाले सभी लोगों के मन को उच्च भावों में उन्नीत कर देती थी।

महाराज के साथ अपने संघ में प्रवेश के विषय में चर्चा करना ही मेरे भुवनेश्वर जाने का उद्देश्य था। एक दिन मैंने उनके समक्ष यह प्रसंग उठाया। मेरी बात सुनने के उपरान्त उन्होंने मुझे एक सलाह दी। परन्तु मैंने स्पष्ट रूप से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए बताया कि मैं किस कारण से उनके सुझाव पर अमल नहीं कर सकूँगा। उन्होंने कहा, "ठीक है, अप्रैल में मैं कलकत्ते में ही रहूँगा, वहीं आकर मुझसे

मिलना।" मैंने भुवनेश्वर से विदा लेने की तिथि निर्धारित करके सबको बता दी थी, परन्तु महाराज को कहीं असुविधा न हो, इस भय से उन्हें इसकी सूचना नहीं दे सका था। मैं पुरीधाम होकर कलकत्ता जानेवाला था। प्रस्थान के पूर्व मैं महाराज से विदा लेने गया और उन्हें अपनी जाने की योजना बतायी। परन्तु मुझे इस सम्बन्ध में प्रोत्साहित करने के स्थान पर महाराज धीमे स्वर में स्वगत ही कहने लगे, "वह पुरी जा रहा है।" मुझे लगा मानो उन्हें मेरा जाना या फ़िर उसी दिन जाना पसन्द नहीं आया। मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ। अब भी मैं उनके उन शब्दों का मर्म समझ नहीं सका हूँ। चूँकि मेरा कार्यक्रम पूर्वनियोजित था, मैं उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता था। मैंने महाराज के चरण स्पर्श किये और विदा ली। यही अवसर था, जब मैंने उनका अन्तिम बार दर्शन किया। आगामी अप्रैल के महीने में उन्होंने कलकत्ते में देहत्याग कर दिया और जुलाई में मैं बेलूड़ मठ जाकर संघ में सम्मिलित हो गया।

ज्यों ज्यों दिन बीतते जा रहे हैं, महाराज मुझे महान से महानतर प्रतीत होते हैं। और अब तो ऐसा लगता है कि वे जिस भूमि पर खड़े थे, वह भी परम पुनीत है। ❑

रामकृष्ण मिशन का संक्षिप्त प्रतिवेदन १९९७-९८

रामकृष्ण मिशन की ८८ वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में विगत १४ दिसम्बर, १९९७ ई० को अपराह्न में साढ़े तीन बजे सम्पन्न हुई। उसमें प्रस्तुत किये गये प्रतिवेदन का सार-संक्षेप इस प्रकार है –

वर्तमान (मार्च, १९९७ ई०) में बेलूड़ मठ के मुख्यालय को छोड़कर रामकृष्ण मठ तथा मिशन की कुल १६१ अधिकृत शाखाएँ विश्व भर में फैली हुई हैं। इनमें से मिशन के ६९ केन्द्र भारत में, ८ बँगलादेश में और १-१ फीजी, फ्रांस, मारीशस, सिंगापुर, श्रीलंका तथा स्विटजरलैंड में स्थित हैं। इसी प्रकार रामकृष्ण मठ के भी ७८ केन्द्र भारत तथा विदेशों में कार्यरत हैं।

नवनिर्माण : आलोच्य वर्ष के दौरान बैंगलोर के शिवनहल्ली में ग्रामोत्थान तथा आदिवासी-कल्याण कार्यों के लिए मिशन का एक नया केन्द्र आरम्भ किया गया। अगरतला केन्द्र में एक नये शैक्षणिक परिसर और मोराबादी (राँची) केन्द्र में 'स्वामी विवेकानन्द तथा ग्रामीण उन्नति' विषय पर एक स्थायी प्रदर्शनी का उद्घाटन हुआ। स्वामीजी ने १९९१-९२ ई० में गुजरात का परिभ्रमण करते समय पोरबन्दर के भोजेश्वर नामक बँगले में लगभग चार माह निवास किया था। गुजरात के मुख्यमंत्री द्वारा वह बँगला

औपचारिक रूप से मिशन को सौंप दिया गया। बैंगलोर की नगरपालिका ने पुराने मद्रास रोड़ को स्वामी विवेकानन्द मार्ग के रूप में नया नामकरण किया है।

राहत और पुनर्वास कार्य : इस वर्ष के दौरान मिशन ने देश के कई भागों और साथ ही बंगलादेश तथा श्रीलंका में भी, बहुत बड़े पैमाने पर राहत तथा पुनर्वास के कार्य हाथ में लिए, जिसमें ४९ लाख ३६ हजार रुपये व्यय करके लगभग साढ़े तीन लाख लोगों को लाभ पहुँचाया गया। महाराष्ट्र के लातूर जिले में पिछले वर्ष भूकम्प-पुनर्वास का कार्य पूरा कर लिया गया था। इस वर्ष उसके परिपूरक के रूप में एक विशाल एकीकृत ग्रामीण विकास का कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

कल्याण कार्य : निर्धन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ और वृद्धों तथा असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि में लगभग १.२७ करोड़ रुपये व्यय हुए।

चिकित्सा कार्य : मिशन के ९ अस्पतालों और ९० औषधालयों तथा चल-चिकित्सालयों के माध्यम से १४.७६ करोड़ रुपये व्यय करके ५० लाख से भी अधिक रोगियों की सेवा की गयी।

शैक्षणिक कार्य : हमारे शिक्षा-संस्थानों ने, किंडरगार्टन से लेकर स्नातकोत्तर तक के १,१५,१७३ विद्यार्थियों को शिक्षा दी, जिनमें ३३,४९० छात्राएँ थीं। इस कार्य में ४२.९५ करोड़ रुपये खर्च हुए।

पिछड़ों के बीच कार्य : ग्रामीण तथा आदिवासी विकास के अनेक कार्यों के मद में कुल ६.२५ करोड़ रुपये व्यय हुए। इनमें निर्धन ग्रामवासियों के लिए सस्ते मकान बनाना तथा विभिन्न प्रशिक्षण के कार्यक्रम शामिल थे।

श्रीलंका, तमिलनाडु तथा कलकत्ता में 'पाश्चात्य देशों से स्वामी विवेकानन्द के भारत लौटने की शताब्दी' बड़े धूमधाम से मनायी गयी। १ मई, १९८७ के दिन, कलकत्ता में 'रामकृष्ण मिशन' की शताब्दी के उद्घाटन का समारोह हुआ।

इस अवसर पर हम अपने समर्पित सदस्यों, मित्रों और चिकित्सक, इन्जीनियर, अधिवक्ता तथा पत्रकार आदि विशेषज्ञों के प्रति, उनके निरन्तर सहयोग तथा वर्तमान सहायता के लिए हार्दिक धन्यवाद तथा आभार व्यक्त करते हैं।

स्वामी स्मरणानन्द

महासचिव